दो शब्द

हिन्दी के प्रमुख कवियों का प्रतिनिधित्व करनेवाली रचनाओं का यह संकलन आपके हाथों में सौंपते हुए हमें आनन्द हो रहा है। आशा है कि हिन्दी जगत् में इसका उचित मूल्यांकन होगा। साथ-ही-साथ हमारा यह भी उद्देश्य रहा है कि यह संकलन अत्यंत रुचिपूर्ण हो जिससे अहिन्दी भाषी-क्षेत्र के छात्रों को जहां हिन्दी कवियों की रचनाओं से परिचय स्थापित करने का अवसर मिले, वहां उनमें हिंदी साहित्य के प्रति रुचि का भी निर्माण हो।

सरस एवं सरल कविताओं के चयन में और विशेषकर उस स्थिति में कि वे अपने-अपने कलाकारों का प्रतिनिधित्व करनेवाली रचनाएं भी हों, कितनी कठिनाई होती है—यह सुधी शिक्षक जानते ही हैं। हमने इस संकलन में कविताओं का चयन करते समय यह ध्यान रखा है कि जहां यह बी० ए० की परीक्षा के छात्रों की योग्यता के अनुरूप हो, वहां यह प्री-डिग्री, प्री-यूनिवर्सिटी परीक्षाओं के लिए भी उपयुक्त बन सके। आरम्भ में संक्षिप्त कवि-परिचय इस उद्देश्य से जोड़ा गया है कि उससे कवि की विशेष भावधारा का परिचय छात्रों को प्राप्त हो सके। अंत में कठिन शब्दों के अर्थ-निमित्त परिशिष्ट दिया गया है; हालांकि उसकी विशेष आवश्यकता न

थी, फिर भी उन छात्रों का विचार रखकर जिनको स्वतंत्र रूप से अपने ही बल-भरोसे अध्ययन करना पड़ता है, यह परिशिष्ट जोड़ा गया है। आशा है कि इस संकलन का स्वागत होगा।

विनीत,

विश्वनाथ एम० ए०

अनुक्रमणिका

प्राचीन कवि

नवीन कवि

प्राचीन कवि

कबीर

निर्गुणोपासक सन्त कवियों में संत कबीर का नाम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। सन्त कबीर के जीवन के बारे में आज भी अनेक बातें अस्पष्ट-सी रही हैं। उनका जन्म संवत् १४५६ और मृत्यु संवत् १५७५ माना जाता है। वे अपने को रामानन्द का शिष्य मानते थे।

कबीर निरक्षर थे, फिर भी उनकी वाणी में अमर ज्ञान की राशि भरी पड़ी है। कबीर ने भाषा के क्षेत्र में अद्वितीय कार्य यह किया कि भाषा को परम्परा से मुक्त कर साहित्य का निर्माण जन-भाषा में किया।

कबीर युगपुरुष थे और उनकी रचना में समन्वय की भावना उन्हें युगनायक के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करती है। कबीर के सुधारवादी दृष्टिकोण में भौतिक एवं आध्यात्मिक सुधार के साथ-साथ हिन्दू-मुस्लिम एकता, मनःशुद्धि, आत्म-परिष्कार, प्रेम, सचाई, सादगी, निष्कपटता, स्वाभाविकता आदि के पालन करने पर ज़ोर दिया गया है। उनका निजी जीवन भी आडम्बरहीन और सहज था और उन्होंने वैसी ही शिक्षा भी दी है। उनकी रचनाओं पर हठयोग की साधना का भी प्रभाव रहा है। आपकी साखियाँ, शब्द, दोहे कबीर-बीजक में संगृहीत हैं।

दोहे

तेरा साईं तुज्झ में, ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूँढ़े घास ॥ १ ॥

गुरु गोविन्द दोऊ खरे, काके लागूँ पायँ।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोबिंद दिया बताय ॥ २ ॥

जब मैं था तो गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम माँहि।
प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाँहि ॥ ३ ॥

साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै, थोथा देई उड़ाय ॥ ४ ॥
माटी कहै कुम्हार से, तू क्या रूँदै मोय।
इक दिन ऐसो होयगो, मैं रूँदूँगी तोय ॥ ५ ॥
माली आवत देखि के, कलियाँ करत पुकार।
फूली-फूली चुन लई, काल्हि हमारी बार ॥ ६ ॥
जहाँ दया तहँ धर्म है, जहाँ लोभ तहँ पाप।
जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ छिमा तहँ आप ॥ ७ ॥
साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥ ८ ॥
पानी बाढ़े नाव में, घर में बाढे दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यहि सज्जन को काम ॥ ९ ॥
मरि जाऊँ माँगूँ नहीं, अपने तन के काज।
परमारथ के कारने, मोहि न आवै लाज ॥ १० ॥
धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय।
माली सींचै सौ घड़ा, ऋतु आए फल होय ॥ ११ ॥
काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगा, बहुरि करैगो कब्ब ॥ १२ ॥
या दुनिया में आइके, छाँड़ि देइ तू ऐंठ।
लेना होय सो लेइ ले, उठी जाति है पैंठ ॥ १३ ॥
दोष पराये देखिके, चलै हसन्त हसन्त।
आपन याद न आवई, जिनका आदि न अन्त ॥ १४ ॥
चलन चलन सब कोई कहै, मोहि अँदेसा और।
साहब से परिचै नहीं, पहुँचोगे किहि ठौर ॥ १५ ॥
लगी लगन छूटै नहीं, जीभ चोंच जरि जाय।
मीठी कहा अँगार को, जाहि चकोर चबाय ॥ १६ ॥

पद

(१)

मोकों कहाँ ढूँढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, न काबे कैलास में।
ना तो कौनो क्रिया-कर्म में, नहीं योग बैराग में।
खोजी होय तो तुरतै मिलहौं, पल-भर की तलास में।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसों की स्वाँस में।

(२)

समुझ देख मन मीत पियरवा,
आसिक होकर सोना क्या रे।
पाया हो तो दे ले प्यारे,
पाय पाय फिर खोना क्या रे।
जिन अँखियन में नींद घनेरी,
तकिया और बिछौना क्या रे।
कहै कबीर प्रेम का मारग,
सीस दिया तो रोना क्या रे॥

(३)

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार-बार वाको क्यों खोले।
हलकी थी जब चढ़ी तराजू, पूरी भयी तब क्यों तोले।
सुरत कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले।
हंसा पाये मानसरोवर, ताल-तलैया क्यों डोले।
तेरा साहब हैं घट माँही, बाहर नैना क्यों खोले।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिलि गैये तिल ओले॥

सूरदास

कृष्णभक्त कवियों में सूर का स्थान सबसे ऊँचा है। निर्गुण भक्ति के स्थान पर सगुण भक्ति की स्थापना करने में सूरदास का सबसे महत्व-पूर्ण स्थान है। वे वल्लभाचार्य के शिष्य थे। इस कारण उनकी रचना में पुष्टि-सम्प्रदाय के विचार भी सहज रूप से समा गए हैं; किन्तु उनका निजी उद्देश्य पुष्टि-सम्प्रदाय का प्रचार न था। महात्मा सूरदास का जीवन भी किंवदन्तियों पर ही अवलम्बित है क्योंकि उन्होंने भी अन्य भक्त कवियों की तरह अपने बारे में कुछ नहीं लिखा।

सूरदास की प्रामाणिक रचनाएँ 'सूरसागर', 'सूरसारावली' और 'साहित्य-लहरी' मानी जाती हैं। सूरदास की रचना तो वास्तव में रत्नाकर के समान ही है जिसमें हम उनके वात्सल्य रस के पद, विनय के पद, मुरली-माधुरी, रूप-माधुरी और भ्रमर-गीत के पदों को प्रधान रस मान सकते हैं। सूरदास का जन्म संवत् १५४० और मृत्यु संवत् १६२० माना जाता है।

सूरदास के वात्सल्य के पदों की बराबरी तो विश्व-साहित्य का कोई भी कवि करने में समर्थ नहीं, यहाँ तक कि महात्मा तुलसीदास के वात्सल्य के पद भी सूर की रचनाओं के सामने फीके पड़ जाते हैं, और इसीलिए यह उक्ति प्रसिद्ध है—

सूर सूर, तुलसी ससी उडुगन केसवदास।

पद

(१)

चरण-कमल बंदौं हरि राई

जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अन्धे को सब कुछ दरसाई।
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।
'सूरदास' स्वामी करुणामय, बार-बार बन्दौं तेहि पाई।।

(२)

अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल

काम क्रोध को पहिरि चोलना कण्ठ विषय की माल।
महामोह को नूपुर बाजत निंदा शब्द रसाल।
भरम भये मन भयो पखावज चलत कुसंगति चाल।
तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यो, लोभ तिलक दै भाल।
कोटिक कला काछि दिखरायी, जल थल सुधि नहिं काल।
'सूरदास' की सबै अविद्या दूर करो नँदलाल।।

(३)

जसोदा हरी पालने झुलावै

हलरावै दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लाल को आउ निंदरिया, काहे न आनि सुवावै।
तू काहे न बेगि ही आवै, तोको कान्ह बुलावै।
कबहूँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै रहि-रहि, करि-करि सैन बतावै।
इहि अन्तर अकुलाइ रहे हरि, जसुमति मधुरै गावै।
जो सुख 'सूर' अमर मुनि दुर्लभ, सो नंदभामिनि पावै।।

(४)

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।

मोसों कहत मोल को लीनो, तू जसुमति कब जायो।
कहा कहौं यहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जातु।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरो तातु।
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै-दै हँसत बाल सब, सिखै देत बलबीर।
तू मोही को मारन सीखी, दाऊहिं कबहूं न खीझै।
मोहन को मुख रिससमेत लखि, जसुमति सुनि-सुनि रीझै।

सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
'सूरस्याम' मो गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥

(५)

चौंरी करत कान्ह धरि पाये।
निसि बासर मोहि बहुत सतायो, अब हरि हाथहिं आये।
माखन, दधि, मेरो सब खायो, बहुत अचगरी कीन्हीं।
अब तौ फन्द परे हौ लालन, तुम्हैं भले मैं चीन्हीं।
दोउ भुज पकरि कह्यो कित जैहौ, माखन लेउ मँगाई।
तेरी सौं मैं नेकु न चाख्यो, सखा गये सब खाई।
मुख तन चितै विहँसि हँसि दीनी, रिस तब गयी बुझाई।
लियो उर लाइ ग्वालिनी हरि को, 'सूरदास' बलि जाई॥

(६)

मैया मोरी मैं नहि माखन खायो।
भोर भयो गैयन के पाछे, मधुबन मोहिं पठायो।
चार पहर बंसीवट भटक्यो, साँझ परे घर आयो।
मैं बालक बहियन को छोटो, छींको केहि विधि पायो।
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो।
तू जननी मन की अति भोरी, इनके कहे पतियायो।
जिय तोरे कछु भेद उपजि है, जान परायो जायो।
यह ले अपनी लकुटि कमरिया बहुतहिं नाच नचायो।
'सूरदास' तब विहँसि जसोदा, ले उर कण्ठ लगायो॥

(७)

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों, आपै प्रान दह्यो।
अलिसुत प्रीति करी जलसुत सों, संपति हाथ गह्यो।
सारंग प्रीति करी जो नाद सों, सन्मुख बान सह्यो।

हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यो।
'सूरदास' प्रभु बिन दुख दूनो, नैननि नीर बह्यो॥

(८)

सब जग तजे प्रेम के नाते ;
चातक स्वाति-बूँद नहिं छाँड़त, प्रगट पुकारत ताते।
समुझत मीन नीर की बातें, तजत प्राण हठि हारत।
जानि कुरंग प्रेम नहिं त्यागत, जदपि व्याध सर मारत।
निमिष चकोर नैन नहिं लावत, ससि जोवत जुग बीते।
ज्योति पतंग देखि बपु जारत, भये न प्रेमघट रीते॥
कहि अलि, क्यों बिसरति वै बातैं, सँग जो करी ब्रजराजै।
कैसे 'सूरस्याम' हम छाँड़े, एक देह के काजै॥

(९)

ऊधो, मन माने की बात।
दाख, छोहारा छाँड़ि अमृतफल, विषकीरा विष खात।
जो चकोर को देइ कपूर कोइ, तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरे काठ में, बँधत कमल के पात।
ज्यों पतंग हित जानि आपनो, दीपक सों लपटात।
'सूरदास' जाको मन जासों, सोई ताहि सुहात॥

(१०)

छाँड़ि मन हरि-विमुखन को संग।
जाके संग कुबुधि उपजति है, परत भजन में भंग।
कागहि कहा कपूर चुगाये, स्वान न्हवाये गंग।
खर को कहा अरगजा लेपन, मरकट भूषन अंग।
पाहन पतित बान नहिं भेदत रीतो करत निषंग।
'सूरदास' खल कारी कामरि चढ़ै न दूजो रंग॥

महात्मा तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास राम-भक्ति शाखा के प्रधान कवि और भारतीय संस्कृति के उन्नायक एवं लोक-नायक के रूप में हमारे सामने आते हैं। अगर वे अपनी रचनाओं के सहारे भारतीय जनता को अपनी संस्कृति की याद न दिलाते तो मुसलमानों के द्वारा पदाक्रान्त हमारी हिन्दू जनता रसातल को पहुँच जाती। उन्होंने मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम के चरित्र को रामचरितमानस में जनता के सामने प्रस्तुत कर मरी जनता में प्राण फूंके। रामचरितमानस तो उत्तर भारत में बाइबल की तरह पूज्य बन गया। उनकी कुल मिलाकर १४ रचनाएं बताई जाती हैं। उनका ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान रूप से प्रभुत्व था। आपका जन्म संवत् १५८९ और मृत्यु संवत् १६८० माना जाता है।

तुलसीदास राम के अनन्य भक्त थे। वे संस्कृत भाषा के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। अरबी-फारसी के कुछ शब्द भी उनकी रचना में मिलते हैं, जिससे उनके अरबी-फारसी के ज्ञान का भी पता चलता है। भाव, भाषा और कला की दृष्टि से तुलसी की बराबरी करनेवाला कोई कवि होगा, इसमें सन्देह है। उनकी प्रधान रचनाएं हैं—रामचरितमानस, विनय-पत्रिका, कवितावली, कृष्णगीतावली, बरवै रामायण, दोहावली।

दोहे

तुलसी संत सुअम्ब-तरु, फूलि-फलहिं पर-हेत।
इतते ये पाहन हनत, उतते वे फल देत।। १ ।।
मुखिया मुखसों चाहिए, खान पान को एक।
पालै पोसै सकल अँग, तुलसी सहित विवेक।। २ ।।
बिना तेज कै पुरुष की, अवशि अवज्ञा होय।
आग बुझै ज्यों राख को आप छुवै सब कोय।। ३ ।।

गो-धन गज-धन बाजि-धन और रतन-धन खान।
जब आवत संतोष-धन सब धन धूरि समान॥ ४॥
काम क्रोध मद लोभ की, जौ लौं मन में खान।
तौ लौं पंडित मूरखौ तुलसी एक समान॥ ५॥
बिन बिस्वास भगत नहिं, तेहि बिन द्रवहिं न राम।
राम-कृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह विश्राम॥ ६॥
तुलसी तरु फूलत-फलत, जेहिविधि कालहि पाय।
तैसे ही गुन दोष-गत प्रगटत समय सुभाय॥ ७॥
आवत ही हरषै नहीं, नैनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइए, कंचन बरसै मेह॥ ८॥
तुलसी काया खेत है, मनसा भयौ किसान।
पाप पुण्य दोउ बीज हैं, बुवै सौ लुनै निदान॥ ९॥
जग ते रह छत्तीस ह्वै, राम चरन छः तीन।
तुलसी देखु विचार हिय, है यह मतौ प्रबीन॥ १०॥
तुलसी साथी विपति के, विद्या, विनय, विवेक।
साहस, सुकृत, सुसत्य-व्रत, राम भरोसे एक॥ ११॥
जड़, चेतन, गुण-दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत-हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥ १२॥
राम नाम अवलम्ब बिनु, परमारथ की आस।
बरषत बारिद बूँद गहि, चाहत चढ़न अकास॥ १३॥
तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिलै सहाय।
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाय॥ १४॥
कल्प बिरिछ को चित्रलिखि, कीन्हें विनय हजार।
वित्त न पावइ ताहि सों, तुलसी देखु विचार॥ १५॥

केवट प्रसंग

माँगी नाव न केवट आना। कहै तुम्हार मरम मैं जाना।।
चरन-कमल रज कहँ सबु कहई। मानुषकरनि मूरि कछुअहई।।
छुवत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई।।
तरनिउं मुनिघरनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई।।
एहि प्रतिपालौं सबु परिवारू। नहिं जानौं कछु और उबारू।।
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पदपदुम पखारन कहहू।।

छन्द—पदकमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहौं।।
बरु तीर मारहु लषनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास-नाथ कृपालु पारु उतारिहौं।।

सोरठा—सुन केवट के बयन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुना-अयन, चितै जानकी-लषन तन।।

कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोई करु जेहि तव नाव न जाई।।
बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलम्ब उतारहि पारू।।
जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा।।
सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहिं जगु किय तिहु पगहु ते थोरा।।
पदनख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभुवचन मोह मति करषी।।
केवट राम रजायसु पावा। पानि कठवता भरि लेइ आवा।।
अति आनन्द उमगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा।।
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं।।

दोहा—पद पखारि जल पान करि, आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि, मुदित गयउ लेइ पार।।

उतरि ठाढ़ भये सुरसरि रेता। सीय रामु गुह लषन समेता।।
केवट उतरि दण्डवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा।।
पियहिय की सिय जाननिहारी। मनमुँदरी मन मुदित उतारी।।

कहेउ कृपाल लेहु उतरायी। केवट चरन गहेउ अकुलायी।।
नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष-दुख-दारिद-दावा।।
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्हि बिधि बनि भलि भूरी।।
अब कछु नाथ न चहिए मोरें। दीन दयाल अनुग्रह तोरें।।
फिरती बार मोहि जो देवा। सो प्रसादु मैं सिर धरि लेवा।।
दोहा—बहुत कीन्ह प्रभु लषन सिय, नहिं कछु केवट लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति विमल बरु देइ।।

मीराबाई

प्रेम-दीवानी मीरा के प्रेम की पीर वास्तव में भुक्तभोगी ही जान सकते हैं, दूसरे नहीं। बचपन से ही कृष्ण-प्रेम में विभोर होकर वे मन ही मन उसे अपना पति मान बैठीं और विवाह के उपरान्त भी उनके मन से कान्हा की छवि दूर नहीं हो पाई—बालापन का प्रेम भला कैसे छूटता! पति की मृत्यु के उपरान्त वे एकरस हो कान्हा के रंग में रंग गईं। उनको बदनामी की भी कोई चिन्ता न रही और उन्हें राणा द्वारा मरवाने के सारे प्रयत्न भी व्यर्थ गए।

मीरा के पदों में निजानुभूति के कारण जो सरसता और स्वाभाविकता की और सहज भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी साधना मधुरोपासना के अन्तर्गत आती है। उनकी भाषा में राजस्थानी का पुट भी विशेष मात्रा में मिलता है। उनका जन्म सम्वत् १५७३ और मृत्यु संवत् १६०३ माना जाता है।

अभी-अभी अनुसंधानों से मीरा की और भी अनेक रचनाएं प्रकाश में आई हैं जो निकट भविष्य में प्रकाशित होकर उनके काव्य की महत्ता को और भी बढ़ा देंगी। उन्होंने पदों की ही रचना की है, जिन्हें गा-गाकर वे कान्हा को रिझाया करती थीं।

पद

(१)

मन रे परसि हरि के चरण।
सुभग सीतल कँवल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरण।
जिन चरण प्रहलाद परसे, इन्द्र पदवी धरण।
जिन चरणा ध्रुव अटल कीने, राखि अपनी सरण।
जिन चरण ब्रह्मांड मेट्यो, नखसिखाँ सिरी धरण।

जिन चरण प्रभु परसि लीने, तरी गौतम घरण।
जिन चरण कालीनाग नाथ्यो, गोपलीला करण।
जिन चरण गोबरधन धार्यो, इन्द्र को गुरब हरण।
दासि मीरा लाल गिरधर, अगम तारण तरण॥

(२)

बसो मोरे नैनन में नंदलाल।
मोहिनी मूरति साँवरी सूरति, नैना बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजंती माल।
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर, सबद रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भक्तबछल गोपाल॥

(३)

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई।
छाँड़ि दई कुल की कानि, कहा करिहै कोई।
संतन ढिग बैठि-बैठि लोक लाज खोई।
अँसुवन जल सींचि-सींचि, प्रेम बेलि बोई।
अब तो बात फैल गई, होनि होय सो होई।
भगत देखि राजी हुई, जगत देखि रोई।
दासी मीरा लाल गिरिधर, तारो अब मोहीं॥

(४)

माई री मैं तो गोविन्द लीनो मोल।
कोई कहै छाने, कोई कहै चौड़े, लियो री बजना ढोल।
कोई कहै मुँहघों, कोई सुँहघों, लियो री तराजू तोल।
कोई कहै कारो कोई कहै गारो, लियोरी अमोलिकमोल।
याही कूँ सब लोग जानत हैं, लियो री आँखी खोल।
मीरा के प्रभु दरसन दीज्यो, पूरब जनम को कोल॥

(५)

पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे।

मैं तो अपने नारायण की, आपहिं हो गई दासी रे।

लोग कहै मीरा भई बावरी, न्यात कहै कुलनासी रे।

विष का प्याला राणाजी भेज्या, पीबत मीरा हाँसी रे।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, सहज मिल्यो अबिनासी रे।

(६)

म्हाँणे चाकर राखो जी, चाकर राखो जी।

चाकर रहसूँ बाग लगासूँ, नित उठ दरसन पासूँ।

विन्द्रावन की कुंज गलिन में, तेरी लीला गासूँ।

चाकरी में दरसन पाऊँ, सुमिरन पाऊँ खरची।

भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनों बाताँ सरसी।

मोर मुकुट पीताम्बर सोहै, गल बैजन्ती माला।

विन्द्रावन में धेनु चरावै, मोहन मुरलीवाला।

ऊँचे-ऊँचे महल बनाऊँ, बिच-बिच राखूँ क्यारी।

साँवरिया के दरसन पाऊँ पहर कुसुम्भी सारी।

जोगी आया जोग करन कूँ, तप करने संन्यासी।

हरी भजन कूँ साधू आया, विन्द्रावन के बासी।

मीरा के प्रभु गहिर गँभीरा, हृदय रहो जो धीरा।

आधी रात प्रभु दरसन दैहैं, जमुनाजी के तीरा॥

रहीम

अब्दुर्रहीम खानखाना अकबर के नवरत्नों में सेँ मुख्य रत्न थे जो उनके सेनापति के साथ ही साथ एक उच्चकोटि के कवि भी थे। वे अकबर के अभिभावक बहराम खानखाना के पुत्र थे। वे हिन्दू संस्कृति और भक्ति-भावना से इतने अधिक प्रभावित थे कि उनकी रचना से अगर उनके नाम की छाप हटा ली जाय तो कोई भी उनकी रचना को किसी मुसलमान कवि की रचना नहीं मानेगा। वे तो अपने मन-चकोर को नित्य ही कृष्ण-चन्द्र की ओर एकरूप, एकरस लगाए रखने के पक्ष में थे। रहीम और रस-खान जैसे कवियों के लिए ही भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी को कहना पड़ा था कि – 'ऐसे तुरक हरिजन पै कोटिक हिन्दू वारिये।' रहीम ने सुभाषित-रत्न-भण्डार का अपने दोहों में अनुवाद कर डाला है। आपकी रचनाओं में अनुभूति की गहराई मिलती है, क्योंकि उन्होंने जीवन में जहाँ बड़े से बड़ा पद पाया था, वहाँ वे सलीम के बादशाह बनने पर कैद कर लिये गये थे और उनकी जागीर आदि सब कुछ लूट लिया गया। इन समस्त बातों का परिचय उनकी रचनाओं से भी मिलता है। दान में तो वे कर्ण का अवतार माने जाते थे। उनका जन्म संवत् १६१० और मृत्यु संवत् १६८३ माना जाता है। उनकी रचनाओं में रहीम-दोहावली और बरवै नायिका-भेद प्रसिद्ध हैं।

दोहे

जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत की सोय।
बारे उजियारो लगे, बढ़े अँधेरो होय।। १ ।।

जे रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग।। २ ।।

यों रहीम सुख होत है, उपकारी के संग।
बाँटनवारे के लगै ज्यों मेंहदी को रंग।। ३ ।।
कौन बड़ाई जलधि मिलि, गंग नाँव भौ धीम।
केहि की प्रभुता नहिं घटी, पर घर गये रहीम।। ४ ।।
कदली सीप भुजंग मुख, स्वाति एक गुन तीन।
जैसी संगति बैठिये, तैसोई फल दीन।। ५ ।।
तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पान।
कहि रहीम पर काज हित, संपति सँचहिं सुजान।। ६ ।।
दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोय।
जो रहीम दीनहिं लखै, दीनबन्धु सम होय।। ७ ।।
रहिमन वे नर मरि चुके, जो कहुँ माँगन जाहिं।
उनसे पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं।। ८ ।।
कहि रहीम संपति सगे, बनत बहुत बहुरीत।
विपति कसौटी जे कसे, सोई साँचे मीत।। ९ ।।
रहिमन देख बड़ेन को, लघु न दीजिये डारि।
जहाँ काम आवे सुई, कहा करै तरवारि।। १० ।।
अमी पियावत मान बिनु, रहिमन मोहि न सुहाय।
प्रेम सहित मरिवौ भलो, जो विष देय बुलाय।। ११ ।।
बड़े बड़ाई ना करें, बड़े न बोलैं बोल।
रहिमन हीरा कब कहे, लाख टका है मोल।। १२ ।।
बिगरी बात बनै नहीं, लाख करै किन कोय।
रहिमन फाटे दूध को, मथे न माखन होय।। १३ ।।
रहिमन कहत सुपेट सों, क्यों न भयो तू पीठ।
भूखे मान बिगारहू, भरे बिगारहु डीठ।। १४ ।।
अन्तर दाब लगी रहै, धुवाँ न प्रगटै सोइ।
कै जिय आपन जानही, कै जिहि बीती होइ।। १५ ।।

जद्यपि अवनि अनेक हैं, तोयवंत सर ताल।
रहिमन मानसरोवरहि, मनसा करत मराल ।। १६ ।।
माँगे घटत 'रहीम' पद, कितो करो बड़ काम।
तीन पैग बसुधा करी, तऊ बावनै नाम ।। १७ ।।
जेहि 'रहीम' तन मन लियो, कियो हिये बिच भौन।
तासों सुख-दुख कहन की, रही बात अब कौन ।। १८ ।।
'रहिमन' जिह्वा बावरी, कहि गइ सरग पताल।
आपु तो कहि भीतर गयी, जूती खाय कपाल ।। १९ ।।
'रहिमन' विपदाहू भली, जो थोरे दिन होइ।
हित अनहित या जगत में, जानि परत सब कोइ ।। २० ।।

रसखान

कृष्णभक्त मुस्लिम कवियों में कविवर रसखान का स्थान अद्वितीय है। वे जाति के पठान थे और उनका राज-परिवार से सम्बन्ध था। वे वैष्णवों द्वारा कृष्ण का परिचय पाकर उसीके रंग में रंग गए।

कान्हा के कारण ब्रजभूमि के प्रति उनका प्रेम-भाव इतना बढ़ गया था कि वे हर स्थिति में ब्रज के समीप रहने की अपनी उत्कट अभिलाषा व्यक्त भी कर देते हैं: उनकी रचनाएं 'प्रेम-बाटिका' और 'सुजान रसखान' में उपलब्ध हैं। उनकी रचना इतनी रसपूर्ण रही है कि उन्होंने अपने नाम के अनुरूप ही अपनी रचना को रस की खानि ही सिद्ध कर दिया है। उन दिनों लोग किसी भी रसपूर्ण रचना को सुनाने का आग्रह करते हुए कहते थे कि कोई रसखान सुनाओ। उनका जन्म संवत् १६१५ और मृत्यु संवत् १६८५ माना जाता है। उनकी रचना में रूप-वर्णन की प्रधानता रही है। वे भी वल्लभ-संप्रदाय के अन्तर्गत ही माने जाते हैं, क्योंकि उन्होंने आचार्य विट्ठल नाथजी से दीक्षा ली थी।

पद

(१)

मानुष हौं, तो वही 'रसखानि' बसौं ब्रज-गोकुल-गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं, तौ कहा बसु मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।
पाहन हौं, तौ वही गिरि कौ, जो धर्यो कर छत्र पुरंदर-धारन।
जो खग हौं, तौ बसेरो करौं, मिलि कालिंदीकूल-कदंब की डारन।।

(२)

या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर कौ तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवों निधि को सुख, नंद की गाइ चराइ बिसारौं।

इन आँखिन सों 'रसखानि' कबौं, ब्रज के बन-बाग-तड़ाग निहारौं।
कोटिक हौं कलधौत के धाम, करील को कुंजन ऊपर वारौं॥

(३)

मोर-पँखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितंबर ले लकुटी बन, गोधन ग्वारिन संग फिरौंगी।
भावतो वोहि मेरे 'रसखानि', सो तेरे कहे सब स्वाँग भरौंगी।
या मुरली मुरलीधर की, अधरान-धरी अधरा न धरौंगी॥

(४)

सेस महेस गनेस दिनेश, सुरेसहूँ जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखंड अछेद अभेद सुबेद बतावैं।
नारद से सुक व्यास रटैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नाचवैं॥

(५)

धूरि भरे अति सोभित स्यामजू, तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत खात फिरैं अँगना, पग पैंजनी बाजतीं पीरी कछोटी।
वा छवि को रसखानि बिलोकत, वारत काम कलानिधि कोटी।
काग के भाग कहा कहिये, हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी॥

वृन्द

कवि वृन्द का जन्म संवत् १७२० के लगभर्ग मथुरा के ग्रास-पास हुग्रा था। ग्रापकी शिक्षा काशी में हुई थी। बाद में कृष्णगढ़ के महाराज मानसिंह ने इन्हें ग्रपना दरबारी कवि बनाकर सम्मानित किया। वे ग्राजीवन वहीं रहे।

कवि वृन्द की ख्याति विशेष रूप से नीति-काव्य के लिए है। प्रमुख रचना है—'वृन्द-सतसई'। इसमें सात सौ दोहे हैं। इनकी भाषा सरल-सुबोध है। कहावतों ग्रौर मुहावरों का प्रयोग सुन्दर ढंग से हुग्रा है।

दोहे

स्वारथ के सब ही सगे, बिन स्वारथ कोउ नाहिं।
जैसे पंछी सरस तरु, निरस भये उड़ि जाहिं ॥१॥
मान होत है गुनन तें, गुन बिन मान न होइ।
सुक सारी राखै सबै, काग न राखै कोइ ॥२॥
मूरख गुन समझै नहीं, तौ न गुनी में चूक।
कहा भयो दिन को बिभो, देखै जो न उलूक ॥३॥
विद्या-धन उद्यम बिना, कही जु पावै कौन।
बिना डुलाए ना मिलै, ज्यों पंखे की पौन ॥४॥
भले बुरे सब एकसों, जौ लौ बोलत नाहिं।
जान परत है काक पिक, ऋतु बसन्त के माहिं ॥५॥
मधुर बचन तें जात मिट, उत्तम जन ग्रभिमान।
तनिक सीत जल सों मिटे, जैसे दूध उफान ॥६॥
सरसुति के भंडार की, बड़ी ग्रपूरब बात।
ज्यों खरचै त्यों-त्यों बढ़ै, बिन खरचै घटि जात ॥७॥
सबै सहायक सबल के, को उन निबल सहाय।
पवन जगावत ग्राग को, दीपहिं देत बुझाय ॥८॥

अपनी पहुँच विचारकै, करतब करिये दौर।
तेते पाँव पसारिये, जेती लाँबी सौर॥९॥
साँच झूठ निरनै करै, नीतिनिपुनि जो होय।
राजहंस बिन को करै, छीर नीर को दोय॥१०॥

बिहारी

रीतिकाल के प्रधान कवि के रूप में बिहारी हमारे सामने आते हैं। उन्होंने कम से कम लिखकर अधिक से अधिक प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा पाई। मात्र ७१३ दोहों की 'बिहारी सतसई' लिखकर वे अमर हो गए हैं। 'बिहारी सतसई' के बारे में यह उक्ति—

जो कोई रस रीति को समझो चाहे सार।
पढ़े बिहारी सतसई कविता को शृंगार॥

उनके स्थान को स्पष्ट कर देती है और वास्तव में ही उनके दोहे—

सतसैया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर।
देखन महँ छोटे लगें घाव करें गम्भीर॥

की उक्ति को चरितार्थ करते हैं। बिहारी का मूल स्वर निःसन्देह शृंगार ही रहा है, फिर भी उनकी रचना में भक्ति, राजनीति और समाज की व्यवस्था के परिचायक दोहे भी मिलते हैं। भाषा का इतना लाक्षणिक प्रयोग शायद ही किसी कवि ने किया हो। बिहारी का जन्म संवत् १६६० और मृत्यु संवत् १७२० के करीब माना जाता है।

दोहे

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परे, स्याम हरित-दुति होइ॥१॥

कब की टेरतु दीन ह्वै, होत न स्याम सहाइ।
तुमहूँ लागी जगत-गुरू, जग-नाइक जग-बाइ॥२॥

कोऊ कोटिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा, बिपति-बिदारनहार॥३॥

जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचे नाचे वृथा साँचे राँचे राम॥४॥

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीत बहार।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कँटीली डार ।।५।।
सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
इहि बानक मो मन सदा, बसौ बिहारी लाल ।।६।।
बढ़त-बढ़त संपति सलिलु, मन-सरोजु बढ़ि जाइ।
घटत-घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ ।।७।।
भजन कह्यौ तातैं भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार।
दूरि भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौ गँवार ।।८।।
अति अगाधु अति औथरौ नदी कूप सर बाइ।
सो ताकौ सागरु जहां, जाकी प्यास बुझाइ ।।९।।
दिन दस आदरु पाइकै, करि लै आपु बखानु।
जौ लगि काग! सराधपखु, तौ लगि तौ सनमानु ।।१०।।
इक भीजैं चहले परैं, बूड़ैं बहैं हजार।
किते न औगुन जग करैं, नै बै चढ़ती बार ।।११।।
कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगतु तपोबन सौ कियौ, दीरघ-दाघ निदाघ ।।१२।।
लोपे कोपे इन्द्र लौं, रोपे प्रलय अकास।
गिरधारी राखैं सबै, गो गोपी गोपाल ।।१३।।
या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहीं कोइ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै श्याम रँग, त्यौं-त्यौं उज्जलु होइ ।।१४।।
तंत्री-नाद कवित्त-रस, सरस राग रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग ।।१५।।
चटक न छांड़तु घटत हूँ, सज्जन-नेहु गँभीरु।
फीकौ परै न बरु फटै, रँग्यौ चोल रँग चीरु ।।१६।।

भूषण

रीतिकाल (शृंगारकाल) का कवि होकर भी शृंगारमुक्त रचना करने वाला, और शृंगारकाल में वीररस की धारा को प्रवाहित करने-वाला कवि भूषण अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सामयिक परिस्थि-तियों के आलोक में, और निष्पक्ष होकर देखा जाय तो भूषण वास्तव में राष्ट्रीय कवि थे।

वीर कवि भूषण ने शूरवीर शिवाजी और छत्रसाल को ही अपनी कविता का आधार बनाया और वे रहे भी उन्हींके आश्रय में। उनकी रचनाएं 'शिवा बावनी', 'शिवराज-भूषण' और 'छत्रसाल-दशक' प्रसिद्ध हैं। उनका जन्म संवत् १६७० और मृत्यु संवत् १७२२ माना जाता है।

उनकी रचना में भी अलंकारों और छंदों की विलक्षणता अवश्य मिलती हैं, पर उन्होंने रीति-परम्परानुकूल रचना नहीं की है।

कवित्त

(१)

इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज है।
पौन बारिबाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुम-दंड पर, चीता मृग-झुण्ड पर,
'भूषण' बितुंड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है।

(२)

वेद राखे विदित पुरान राखे, सारयुत
रामनाम राख्यो अति रसना सुघर में।

हिंदुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में।
मीड़ि राखे मुगल, मरोरि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे, बरदान राख्यौ कर में।
राजन की हद राखी, तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल, स्वधर्म राख्यौ घर में॥

(३)

राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यौ,
अस्मृति पुरान राखे वेद-विधि सुनी मैं।
राखी राजपूती, रजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यौ, राख्यौ, गुन गुनी मैं।
भूषण सुकवि जीति हद्द मरहट्ठन की,
देस-देस कीरति बखानी तब सुनी मैं।
साहु के सपूत सिवराज, समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबिकै दिवाल राखी दुनी मैं॥

(४)

ऊँचे घोर मंदर के अन्दर रहनबारी,
ऊँचे घोर मंदर के अन्दर रहाती हैं।
कंद-मूल भोग करैं कंद-मूल भोग करैं,
तीन बेर खाती ते वै तीन (बीन) बेर खाती हैं।
भूषन सिथिल अंग भूषन सिथिल अंग,
विजन डुलातीं ते वै विजन डुलाती हैं।
'भूषन' भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ातीं ते वै नगन जड़ाती हैं।

नवीन कवि

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

खड़ीबोली हिन्दी के प्रथम महाकवि के रूप में हरिऔधजी हमारे सामने आते हैं। आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी के प्रभाव और प्रेरणा से आपने खड़ीबोली में लिखना आरम्भ किया। आपका 'प्रिय-प्रवास' खड़ीबोली हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। 'प्रिय-प्रवास' की भाषा संस्कृत-निष्ठ समासशैली की भाषा है। किन्तु हरिऔधजी ने बोलचाल की भाषा में भी सुन्दर और सरस रचनाएं की हैं। उनकी रचनाओं में 'प्रिय-प्रवास', 'वैदेही-वनवास', 'चोखे चौपदे' और 'रस-कलश' मुख्य हैं।

उन्होंने प्रिय-प्रवास में राधा के रूप को नये रंग में प्रस्तुत किया है। राधा यहाँ आकर देश-सेविका के रंग में रँगी दिखाई देती हैं। उनके चरित्रों का मानव-सुलभ स्वभाव उन्हें पाठकों के पास ले आया है और वे प्रभावशाली बन गए हैं। चौपदों में उनकी रचना में मुहावरों के प्रयोगों और भाषा की लाक्षणिकता द्रष्टव्य है। उनका जन्म संवत् १९२२ और मृत्यु संवत् २००३ है।

फूल और काँटे

(१)

हैं जनम लेते जगह में एक ही,
एक ही पौधा उन्हें है पालता।
रात में उनपर चमकता चाँद भी,
एक ही सी चाँदनी है डालता॥

(२)

मेंह उनपर है बरसता एक-सा,
एक-सी उनपर हवाएँ हैं बहीं।

पर सदा ही यह दिखाता है समय,
ढंग उनके एक से होते नहीं ।।
(३)
छेदकर काँटा किसीकी उँगलियाँ,
फाड़ देता है किसीका वर वसन ।
और प्यारी तितलियों का पर कतर,
भौंर का है बेध देता श्याम तन ।।
(४)
फूल लेकर तितलियों को गोद में,
भौंर को अपना अनूठा रस पिला ।
निज सुगन्धी औ' निराले रंग से,
है सदा देती कली दिल की खिला ।।
(५)
खटकता है एक सबकी आंख में,
दूसरा है सोहता सुर-सीस पर ।
किस तरह कुल की बड़ाई काम दे,
जो किसीमें हो बड़प्पन की कसर ।।

पवन-दूत

नाना चिन्ता सहित दिन को राधिका थी बिताती,
आँखों को थीं सजल रखती उन्मना थीं बिताती ।
शोभावाले जलद-वपु की हो रही चातकी थीं,
उत्कंठा थीं परम प्रबला वेदना वर्द्धिता थीं ।।

बैठी खिन्ना एक दिवस वे गेह में थीं अकेली,
आके आँसू युगल दृग में थे धरा को भिगोते ।
आई धीरे इस सदन में पुष्पसद्गन्ध को ले,
प्रात:वाली सुपवन इसी काल बातायनों से ।।

आके पूरा सदन उसने सौरभीला बनाया,
चाहा सारा कलुष तन का राधिका के मिटाना।
जो बूँदें थीं सजल दृग के पक्ष में विद्यमाना,
धीरे-धीरे क्षिति पर उन्हें सौम्यता से गिराया॥

श्री राधा को यह पवन की प्यार वाली क्रियाएँ,
थोड़ी-सी भी न सुखद हुई हो गयीं वैरिणी-सी।
भीनी-भीनी महक सिगरी शान्ति उन्मूलती थी,
पीड़ा देती परम चित को वायु की स्निग्धता थी॥

सन्तापों को विपुल बढ़ता देख के दुःखिता हो,
धीरे बोलीं सदुख उससे श्रीमती राधिका यों—
"प्यारी प्रातःपवन, इतना क्यों मुझे है सताती,
क्या तू भी है कलुषित हुई काल की क्रूरता से?

मेरे प्यारे नव-जलद-से, कंज-से नेत्रवाले,
जाके आये न मधुवन से औ न भेजा सँदेसा।
मैं रो-रोके प्रिय-विरह से बावरी हो रही हूँ,
जाके मेरी सब कथा स्याम को तू सुना दे॥

कालिन्दी के तट पर घने रम्य उद्यानवाला,
ऊँचे-ऊँचे धवल गृह की पंक्तियों से प्रशोभी।
जो है न्यारा नगर मथुरा, प्राणप्यारा वही है,
मेरा सूना सदन तज के तू वहाँ शीघ्र ही जा॥

जाते-जाते अगर पथ में क्लान्त कोई दिखावे,
तो तू जाके निकट उसकी क्लान्तियों को मिटाना।

धीरे-धीरे परस करके गात उत्ताप खोना,
सद्गन्धों से श्रमित उन को हर्षितों-सा बनाना ।।

तेरे जैसी मृदु पवन से सर्वथा शान्ति-कामी,
कोई रोगी पथिक पथ में जो कहीं भी पड़ा हो ।
तो तू मेरे सकल दुख को भूल के, धीर होके,
खोना सारा कलुष उसका शान्ति सर्वांग होना ।।

जाते-जाते पहुँच मथुरा-धाम में उत्सुका हो,
न्यारी शोभा वर नगर की देखना मुग्ध होना ।
तू होवेगी चकित लख के मेरु-से मन्दिरों को,
आभावाले कलश जिनके दूसरे अर्क-से हैं ।।

तू देखेगी जलद-तन को जा वहीं तद्गता हो,
होंगे लोने नयन उनके ज्योति-उत्कीर्णकारी ।
मुद्रा होगी वर बदन की मूर्ति-सी सौम्यता की,
सीधे-सीधे वचन उनके सिक्त-पीयूष होंगे ।।

नीले कंजों सदृश उनके गात की श्यामता है,
पीला प्यारा वसन कटि में पहनते हैं फबीला ।
छूटी काली अलक मुख की कान्ति को है बढ़ाती,
सद्वस्त्रों में नवल तन की फूटती-सी प्रभा है ।।

जाते ही छू कमलदल-से पाँव को पूत होना,
काली-काली अलक मृदुता से कपोलों हिलाना ।
क्रीड़ायें भी कलित करना ले दुकूलादिकों को,
धीरे-धीरे परस तन को, प्यार की बेलि बोना ।।

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला भौन में जो पड़ा हो,
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू।
यों देना ऐ पवन ! बतला धूल-सी एक बाला,
म्लाना हो हो कमल-पग को चूमना चाहती है ।।

लाके फूले कमल-दल को श्याम के सामने ही,
थोड़ा-थोड़ा विपुल जल में व्यग्र हो हो डुबाना।
यों देना तू भगिनि, जतला एक अंभोजनेत्रा,
आँखों को हो विरह-विधुरा वारि में बोरती है ।।

सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पड़ी हो,
तो तू पाँवों निकट उसको श्याम के ला गिराना।
यों सीधे तू प्रकट करना प्रीति से वंचिता हो,
मेरा होना अति मलिन औ सूखते नित्य जाना ।।

यों प्यारे को विदित करके सर्व मेरी व्यथायें,
धीरे-धीरे वहन करके पाँव की धूलि लाना।
थोड़ी-सी भी चरण-रज जो ला न देगी मुझे तू,
हा ! कैसे तो व्यथित चित को बोध मैं दे सकूंगी ?

जो ला देगी चरण-रज तू तो बड़ा पुण्य लेगी,
पूता हूँगी परम उसको अंग में मैं लगाके।
पोतूँगी जो हृदय-तल में वेदना दूर होगी,
डालूँगी मैं शिर पर उसे आँख में ले मलूँगी ।।

पूरी होवें न यदि तुझसे अन्य बातें हमारी,
तो तू मेरी विनय इतनी मान ले औ चली जा।

छकके प्यारे कमल-पग को प्यार के साथ आजा,
जी जाऊँगी हृदय-तल में मैं तुझी को लगाके ।।"
('प्रिय-प्रवास' से)

आँख

सूर को क्या अगर उगे सूरज
क्या, उसे, जाए चाँदनी जो खिल ।।
हम अँधेरा तिलोक में पाते
आँख होते अगर न तेरे तिल ।।

क्या हुआ चौकड़ी अगर भूले
लख उछल कूद और छल करना ।।
है छकाता छलाँगवालों को
आँख ! तेरा छलाँग का भरना ।।

काजलों या कालिखों की छूत में
कम अछूतापन नहीं तेरा सना ।।
धूल लेकर के अछूते पाँव की
ऐ अछूती आँख तू सुरमा बना ।।

जबकि निज मुँह बना लिया काला
तब किसी मुँह की क्यों सहे लाली ।।
क्या अजब है अगर मरे जल-जल ।
कलमुँही आँख काजलोंवाली ।।

तू उसे भूलकर गुनी मत गुन
जिस किसीको गुमान हो गुन का ।।
'जो कि हैं ताकते नहीं सीधे ।
आँख ! मुँह ताक मत कभी उनका ।। ('चौखे चौपदे' से

मैथिलीशरण गुप्त

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की राष्ट्रीयता भावती हिन्दुत्व तक ही सीमित है। वे वास्तव में भारतीय संस्कृति के आख्याता कवि हैं।

मैथिलीशरण गुप्त एक भक्तकवि हैं। उनका राम पौराणिक और आध्यात्मिक राम न रहकर मानव राम बन गया है, जो अपने आचरण से ऊँचा उठकर नर से नारायण बन गया है, अतः अधिक प्रेरणादायक है। उनकी रचना में पुनरुत्थान-युग की समस्त विचारधारा को स्थान मिला है और वे सच्चे अर्थों में एक युगकवि के नाम से पुकारे जा सकते हैं। उन्होंने नारी को उपक्षित स्थान से उठाकर उसे उसका गौरवमय स्थान दिलाने का प्रयत्न किया है और उपेक्षित नारियों—उर्मिला, यशोधरा, विष्णु-प्रिया और कैकेयी—को उन्होंने एक बार प्रकाश में लाकर उनके कलंक को पूर्ण रूप से धो ही नहीं डाला है, अपितु उनके चरित्र को निखारकर आदर्श बना दिया है।

गुप्तजी की आज तक पचास के करीब रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उनमें 'रंग में भंग', 'भारत-भारती', 'साकेत', 'जयद्रथवध', 'पंचवटी', 'अनघ', 'यशोधरा', 'नहुष' आदि मुख्य हैं। उनका जन्म संवत् १९४३ में हुआ और मृत्यु संवत् २०२१ में।

धन्य लाल की माई

तनन्तर बैठी सभा उटज के आगे,
नीले वितान के तले दीप बहु जागे।
टकटकी लगाये नयन सुरों के थे वे,
परिणामोत्सुक उन भयातुरों के थे वे।

वह चन्द्रलोक था, कहाँ चाँदनी' वैसी,
प्रभु बोले गिरा गँभीर नीरनिधि जैसी।

"हे भरतभद्र, अब कहो अभीप्सित अपना।"
सब सजग हो गये, भंग हुआ ज्यों सपना।

"हे आय, रहा क्या भरत अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब, तब भी,
पाया तुमने तरु-तले अरण्य बसेरा,
रह गया अभीप्सित-शेष तदपि क्या मेरा ?

तनु तड़प-तड़पकर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?
हा ! इसी अयश के हेतु जनन था मेरा,
निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा।

अब कौन अभीप्सित और आर्य, वह किसका ?
संसार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका।
मुझसे मैंने ही आज स्वयम् मुँह फेरा,
हे आर्य, बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा।"

प्रभु ने भाई को पकड़ हृदय पर खींचा,
रोदन जल से सविनोद उन्हें फिर सींचा—
"उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
जनकर जननी ही जान न पाई जिसको !"

"यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को।"
चौंके सब सुनकर अटल केकयी-स्वर को,
सबने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्य तुषारावृता यथा विधु-लेखा।

बैठी थी अचल तथापि असंख्य-तरंगा,
वह सिंही अब थी हहा ! गोमुखी गंगा—
"हाँ, जनकर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुन लें, तुमने स्वयम् अभी यह माना।

यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया,
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया।
दुर्बलता का ही चिह्न विशेष शपथ है,
पर अबलाजन के लिए कौन-सा पथ है ?

यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ !
तो पति समान ही स्वयम् पुत्र भी खोऊँ।
ठहरो, मत रोको मुझे, कहूँ सो सुन लो।
पाओ यदि उसमें सार उसे सब चुन लो।

करके पहाड़-सा पाप मौन रह जाऊँ ?
राई-भर भी अनुताप न करने पाऊँ ?"
थी सनक्षत्र शशि-निशा ओस टपकाती,
रोती थी नीरव सभा हृदय थपकाती।

उल्का-सी रानी दिशा दीप्त करती थी,
सबमें भय, विस्मय और खेद भरती थी।
"क्या कर सकती थी मरी मन्थरा दासी,
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी।

जल पंजर-गत अब अरे अधीर, अभागे,
वे ज्वलित भाव थे स्वयम् तुझी में जागे।
पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन में ?
क्या शेष बचा था कुछ न और इस जन में ?

कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र क्या तेरा ?
पर आज अन्य-सा हुआ वत्स भी मेरा।
थूके, मुझपर, त्रैलोक्य भले ही थूके,
लो कोई जो कह सके, कहे क्यों चूके ?

छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे,
रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे ?
कहते आते थे यही अभी नरदेही,
'माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।'

अब कहें सभी यह, हाय ! विरुद्ध विधाता,—
'है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।'
बस मैंने इसका बाह्य मात्र ही देखा,
दृढ़ हृदय न देखा, मृदुल गात्र ही देखा।

परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा,
इस कारण ही तो हाय आज यह बाधा !
युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।'

निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार ! उसे था महास्वार्थ ने घेरा।'
'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।"
पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई—
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।"

('साकेत' से)

दोनों ओर प्रेम पलता है

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि, पतंग भी जलता है हा! दीपक भी जलता है!

सीस हिलाकर दीपक कहता—
"बन्धु, वृथा ही तू क्यों दहता ?"
पर पतंग पड़कर ही रहता! कितनी विह्वलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है।

बचकर हाय! पतंग मरे क्या ?
प्रणय छोड़ कर प्राण धरे क्या ?
जले नहीं तो मरा करे क्या ? क्या यह असफलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

कहता है पतंग मन मारे,
"तुम महान, मैं लघु, पर प्यारे,
क्या न मरण भी हाथ हमारे ? शरण किसे छलता है ?"
दोनों ओर प्रेम पलता है।

दीपक के जलने में आली,
फिर भी है जीवन की लाली,
किन्तु पतंग-भाग्य-लिपि काली, किसका वश चलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

जगती वणिग्वृत्ति है रखती,
उसे चाहती जिससे चखती;
काम नहीं, परिणाम निरखती, मुझे वही खलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है।

('साकेत' से)

पधारो

पधारो, भव-भव के भगवान !
रख ली मेरी लज्जा तुमने, आओ अत्र भवान !

नाथ विजय है यही तुम्हारी,
दिया तुच्छ को गौरव भारी।
अपनायी मुझ-सी लघु नारी,
होकर महा महान !
पधारो, भव-भव के भगवान !

यही प्रणति है उन्नति मेरी,
हुई प्रणय की परिणति मेरी,
मिली आज मुझको गति मेरी,
क्यों न करूँ अभिमान ?
पधारो, भव-भव के भगवान !

कर रक्खी यह कृपा तुम्हारी,
मैं पद पद्मों पर ही वारी।
चरणामृत करके ये खारी,
अश्रु करूँ अब पान।
पधारो, भव-भव के भगवान !

('यशोधरा' से)

सखि, वे मुझसे कहकर जाते

सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात;
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?

मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना ?
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में—
क्षात्र-धर्म के नाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

हुआ न यह भी भाग्य अभागा,
किस पर विफल गर्व अब जागा ?
जिसने अपनाया था, त्यागा;
रहें स्मरण ही आते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते,
पर इनसे जो आँसू बहते,
सदय हृदय वे कैसे सहते ?
गये तरस ही खाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से ?—
आज अधिक वे भाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

गये, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व-अनुपम लावेंगे;
रोते प्राण उन्हें पावेंगे ?
पर क्या गाते गाते ?
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
('यशोधरा' से)

माखनलाल चतुर्वेदी

माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म संवत् १९५४ में हुआ। आप एक सफल पत्रकार थे और आपने 'कर्मवीर' का वर्षों तक सफलतापूर्वक संपादन किया। आप एक अच्छे वक्ता भी थे। आपको "एक भारतीय आत्मा' के नाम से विभूषित किया गया था। आपकी रचनाएँ देश-प्रेम और नवयुवकों के लिए प्रेरणा लेकर चली हैं। 'कृष्णार्जुन-युद्ध' आपका सफल नाटक है।

चतुर्वेदीजी बहुमुखी प्रतिभा लेकर पैदा हुए थे। कविता में आपने अपनी स्वतन्त्र धारा बहाई है। भावों की मधुरता और उक्ति-वैचित्र्य आपके विशेष गुण हैं। हिन्दी कविता में आप एक ओर द्विवेदीकालीन भाव-धारा के प्रभाव से मुक्त रहे तो दूसरी ओर उन्होंने अपने पर छायावादी प्रभाव भी पड़ने नहीं दिया। वे राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत कविता ही करते रहे। उनकी प्रमुख रचनाएँ 'हिमकिरीटिनी', 'हिमतरंगिणी,' 'युग-चरण', 'समर्पण' आदि हैं।

उलाहना

तुम्हीं जब याद की टीसें भुलाते हो
भला फिर प्यार का अभिमान क्यों जीवे ?
तुम्हीं बलिदान के मन्दिर गिराते हो
भला अभिसार का मेहमान क्यों जीवे ?

भुला दीं सूलियां ? जैसे ज़माने में
सभी कुछ तालियों से पा लिया तुमने ?
न तुम बहले, न युग बहला, भले साथी
बताओ तो किसे बहला लिया तुमने ?

बड़े रस्ते, बड़े पुल, बांध क्या कहने
बड़े ही कारखाने हैं, इमारत हैं।

ज़रा पोंछूँ इन्हें, आँसू उभर आये
बड़ापन यह न छोटों की इबारत है।

जरा छोटों से घुल-मिलकर रहो जीवन !
बड़े सब मिट गये, छोटे सलामत हैं,
बड़ों से डर, ज़रा छोटों पै मर गाफ़िल !
बड़ी स्वादिष्ट छोटों की अमानत है।

तुम्हारी चरण-रेखा देखते हैं वे
उन्हें भी देखने का तुम समय पाओ।
तुम्हारी आन पर कुरबान जाते हैं
अमीरी से ज़रा नीचे उतर आओ

तुम्हारी बाँह में बल है ज़माने का
तुम्हारे शब्द में जादू जगत का है।
कभी कुटिया-निवासी बन ज़रा देखो
कि दलिया न्यौतता रमलू भगत का है।

गयीं सदियाँ कि यह बहती रही गंगा
गनीमत है कि तुमने मोड़ दी धारा
बड़ी बाढ़ोंमयी उद्दण्ड नदियों की
बना दी पत्थरोंवाली नयी कारा

उठो, कारा बनाओ अब गरीबी की
रहो मत दूर, अपनों के निकट आओ,
बड़े गहरे लगे हैं घाव सदियों के
मसीहा, इनको ममता भरके सहलाओ !

रामनरेश त्रिपाठी

श्री रामनरेश त्रिपाठी का जन्म संवत् १९४६ में उत्तर प्रदेश के जौनपुर जिले में हुआ था। खड़ीबोली के कवियों में आपका महत्वपूर्ण स्थान था। आप हिन्दी के बहुत पुराने कवि थे। आपके काव्य में भाषा का सौंदर्य और शैली की सरलता रहती है। आप राष्ट्रीयता और मानवता के पुजारी थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में आप जेल जा चुके थे। राष्ट्रपिता गांधीजी का आप पर अधिक प्रभाव पड़ा था। अतः आपके खंडकाव्यों में अहिंसक क्रांति का संदेश सामने आता है। त्रिपाठीजी ने प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक-काव्य दोनों प्रकार के काव्य सफलतापूर्वक लिखे हैं। इसके अतिरिक्त कविता के विविध प्रकारों के संकलन आपने 'कविता-कौमुदी' नाम से प्रकाशित किए हैं। गुजरात के राष्ट्रीय कवि श्री झवेरचंद मेघाणी की भाँति त्रिपाठीजी ने भी उत्तर भारतीय 'लोक-साहित्य' का सर्वप्रथम संकलन एवं सम्पादन किया और हिंदी की बड़ी सेवा की। बाल-साहित्य के आप सिद्धहस्त लेखक थे। इस प्रकार त्रिपाठीजी बहुमुखी प्रतिभा के साहित्कार माने जाते थे। अंत तक आप हिंदी-साहित्य की सेवा में लगे रहे। आपकी प्रमुख रचनाएँ 'पथिक,' 'मिलन,' 'स्वप्न,' 'कविता-कौमुदी' हैं।

जीवन संदेश

(१)

जग में सचर अचर जितने हैं सारे कर्म-निरत हैं।
धुन है एक न एक सभी को सबके निश्चित व्रत हैं।
जीवन भर आतप सह वसुधा पर छाया करता है।
तुच्छ पत्र की भी स्वकर्म में कैसी तत्परता है।

(२)

सिंधु-विहंग तरंग-पंख को फड़का कर प्रतिक्षरण में।
है निमग्न नित भूमि खण्ड के सेवन में – रक्षरण में।
कोमल मलय-पवन घर-घर में सुरभि बाँट आता है।
सत्य सींचने घन जीवन धारण कर नित जाता है।।

(३)

रवि जग में सोभा सरसाता सोम सुधा बरसाता।
सब हैं जगे कर्म में कोई निष्क्रिय दृष्टि न आता।
है उद्देश्य नितान्त तुच्छ तृरण के भी लघु जीवन का।
उसी पूर्ति में वह करता है अन्त कर्ममय तन का।।

(४)

तुम मनुष्य हो, अमित बुद्धि-बल-विलसित जन्म तुम्हारा।
क्या उद्देश्य-रहित है जग में तुमने कभी विचारा?
बुरा न मानो, एक बार सोचो तुम अपने मन में।
क्या कर्तव्य समाप्त कर लिये तुमने निज जीवन में?

(५)

जिस पर गिर कर उदर दरी से तुमने जन्म लिया है।
जिसका खाकर अन्न सुधा-सम तुमने नीर पिया है।
जिस पर खड़े हुए, खेले, घर बना बसे, सुख पाये।
जिसका रूप विलोक तुम्हारे दृग, मन, प्राण जुड़ाये।।

(६)

वह सनेह की मूर्ति दयामयि माता-तुल्य मही है।
उसके प्रति कर्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नहीं है।
हाथ पकड़कर प्रथम जिन्होंने चलना तुम्हें सिखाया।
भाषा सिखा हृदय का अद्‌भुत रूप स्वरूप दिखाया।।

(७)

जिनकी कठिन कमाई का फल खाकर बड़े हुए हो।
दीर्घ देह ले बाधाओं में निर्भय खड़े हुए हो।
जिनके पैदा किये, बुने वस्त्रों से देह ढके हो।
आतप-वर्षा-शीत-काल में पीड़ित हो न सके हो॥

(८)

क्या उनका उपकार-भार तुम पर लवलेश नहीं है?
उनके प्रति कर्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नहीं है?
सतत ज्वलित दुख-दावानल में जग के दारुण रन में।
छोड़ उन्हें कायर बनकर तुम भाग बसे निर्जन में॥

(९)

यह संसार मनुष्य के लिए एक परीक्षा-स्थल है।
दुख है प्रश्न कठोर, देखकर होती बुद्धि विकल है।
किन्तु स्वात्म-बल-विज्ञ सत्पुरुष ठीक पहुँच अटकल से।
हल करते हैं प्रश्न सहज में अविरल मेधा-बल से।

(१०)

यही लोक-कल्याण-कामना यही लोक सेवा है।
यही अमर करनेवाले यश-सुरतरु का मेवा है।
जाओ पुत्र! जगत् में जाओ, व्यर्थ न समय गँवाओ।
सदा लोक-कल्याण-निरत हो जीवन सफल बनाओ॥

(११)

जनता के विश्वास कर्म मन ध्यान श्रवण भाषण में।
वास करो, आदर्श बनो, विजयी हो जीवन-रण में।
अति अशांत दुखपूर्ण विश्रृंखल क्रांति-उपासक जग में।
रखना अपनी आत्म-शक्ति पर दृढ़ निश्चय प्रतिपग में॥

(१२)

जग की विषय आंधियों के झोंके सम्मुख हो सहना।
स्थिर उद्देश्य-समान और विश्वास-सदृश दृढ़ रहना।
जाग्रत नित रहना उदारता-तुल्य असीम हृदय में।
अन्धकार में शांत चन्द्र-सा, ध्रुव-सा निश्चल भय में।।

(१३)

जग में सुख की प्राप्ति के लिए एक सहायक दुख है।
वही जगाता है सद्गुण को सद्गुण लाता सुख है।
बाधा, विघ्न, विपत्ति, कठिनता जहाँ-जहाँ सुन पाना।
सबके बीच निडर हो जाना दुख को गले लगाना।।

(१४)

जगन्नियंता की इच्छा से यह संसार बना है।
उसकी ही क्रीड़ा का रूपक यह समस्त रचना है।
है यह कर्म-भूमि जीवों की यहाँ कर्मच्युत होना,
धोखे में पड़ना अलभ्य अवसर से है कर धोना।।

(१५)

पैदा कर जिस देश जाति ने तुमको पाला पोसा।
किये हुए है वह निज हित का तुमसे बड़ा भरोसा।
उससे होना उऋण प्रथम है सत्कर्तव्य तुम्हारा।
फिर दे सकते हो वसुधा को शेष स्वजीवन सारा।

('पथिक' से)

जयशंकर प्रसाद

श्री जयशंकर प्रसाद का जन्म संवत् १९४६ में और अवसान सवत १९९४ में हुआ। इनकी शिक्षा घर पर ही हुई थी। इनके पिताजी अच्छे विद्याप्रेमी और साहित्यिकों की कद्र करने वाले थे। इनके घर पर साहित्य-कारों की सदा बैठक रहती थी। घर के साहित्यिक वातावरण ने प्रसाद-जी को अज्ञातरूप से कविकर्म की ओर प्रवृत्त किया। आरम्भ में ये ब्रज-भाषा में कविता करने लगे, किन्तु शीघ्र ही खड़ीबोली में कविता करने लगे। ये छायावाद के प्रतिनिधि कवि जाने जाते हैं।

प्रसादजी की कविता उच्चकोटि की है। उसमें गम्भीर चिन्तन तथा महान् दर्शन है। सस्ती लोकप्रियता के ये घोर विरोधी थे। जीवन और साहित्य के गहरे अध्ययन के बाद ही इन्होंने कलम उठाई और जो लिखा वह अमर साहित्य बन गया। 'कामायनी' आपका सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है।

प्रसादजी हिन्दी के सर्वतोमुखी प्रतिभा के कलाकार थे। आपकी प्रमुख रचनाएं इस प्रकार हैं : काव्य—कानन-कुसुम, लहर, झरना, आँसू और कामायनी ; नाटक—ध्रुवस्वामिनी, राज्यश्री, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, एक घूंट आदि; कहानी-संग्रह-आंधी, आकाशदीप; उपन्यास—तितली, कंकाल।

मधुमय देश

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।
लघु सुरधनु से पंख पसारे शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुंह किये समझ नीड़ निज प्यारा।

बरसाती आँखों के बादल बनते जहाँ भरे करुणा जल।
लहरें टकरातीं अनन्त की पाकर जहाँ किनारा।
हेम कुम्भ ले उषा सबेरे भरती ढुलकाती सुख मेरे।
मदिर ऊँघते रहते जब जग कर रजनी भर तारा।

गीत

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर-पनघट पर डुबो रही तारा-घट ऊषा नागरी।
खग कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा।
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।।
अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये।
तू अब तक सोई है आली!
आँखों में भरे विहाग री!

('लहर' से)

आँसू

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ?

बस गई एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र-लोक फैला है
जैसे इस नील निलय में

शीतल ज्वाला जलती है
ईंधन होता दृग्-जल का
यह व्यर्थ साँस चल-चलकर
करती है काम अनिल का

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छाई
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई।

विस्मृति है मादकता है
मूर्च्छना भरी है मन में
कल्पना रही, सपना था
मुरली बजती निर्जन में।

आकाश शून्य फैला है
है शक्ति न और सहारा
अपदार्थ तिरूँगा मैं क्या
हो भी कुछ कूल किनारा।

सूखे सिकता सागर में
यह नैया मेरे मन की
आँसू की धार बहाकर
खे चला प्रेम बेगुन की।

है चंद्र हृदय में बैठा
उस शीतल किरण सहारे
सौन्दर्य सुधा बलिहारी
चुगता चकोर अंगारे।

बलने का सम्बल लेकर
दीपक पतंग से मिलता

जलने की दीन दशा में
वह फूल सदृश हो खिलता।

इस शिथिल आह से खिचकर
तुम आओगे, —आओगे
इस बढ़ी व्यथा को मेरी
रो रो कर अपनाओगे।

चेतना लहर न उठेगी
जीवन समुद्र थिर होगा
सन्ध्या हो सर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा।

मानव जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह-मिलन का
दुख-सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।

('आँसू' से)

मेरे नाविक

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धीरे-धीरे।

जिस निर्जन में सागर-लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे!

जहाँ साँझ-सी जीवन-छाया
ढीले अपनी कोमल काया

नील नयन से ढुलकाती हो,
ताराओं की पाँति घनी रे !

जिस गंभीर मधुर छाया में,
विश्व चित्र-पट चल माया में
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई,
दु:ख-सुखवाली सत्य बनी रे !

श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से
जहाँ सृजन करते मेला से,
अमर जागरण-उषा नयन से
बिखराती हो ज्योति घनी रे !

मुझको न मिला···

चिर तृषित कण्ठ से तप्त विधुर
वह कौन अकिंचन अति आतुर
अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ-सदृश
ध्वनि कम्पित करता बार-बार,
धीरे से वह उठता पुकार :
'मुझको न मिला रे कभी प्यार !'

सागर लहरों का आलिंगन
निष्फल उठकर गिरता प्रतिदिन
जल-वैभव है सीमाविहीन
वह रहा एक कन को निहार,
धीरे से वह उठता पुकार :
'मुझको न मिला रे कभी प्यार !'

फैलाती है जब उषा राग
जग जाता है उसका बिराग
वंचकता. पीड़ा, घृणा, मोह
मिलकर बिखेरते अन्धकार,
धीरे से वह उठता पुकार :
'मुझको न मिला रे कभी प्यार !'

ढल विरल डालियाँ भरी मुकुल
झुकतीं सौरभ-रस लिये अतुल
अपने विषाद-विष में मूर्च्छित
काँटों से बिंधकर बार-बार,
धीरे से वह उठता पुकार
'मुझको न मिला रे कभी प्यार !'

पागल रे ! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन-कन से गिनकर
यह विश्व लिये है ऋण उधार,
तू क्यों फिर उठता है पुकार :
'मुझको न मिला रे कभी प्यार ?' ('लहर' से)

सुमित्रानन्दन पंत

प्रकृति के क्रोड़ में पले पन्तजी कल्पना के प्रधान कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे किसी भाव-धारा को लेकर ही क्यों न चले हों, पर उन्होंने उस भाव-धारा को अपनी प्रतिभा से विभूषित ही किया है।

छायावादी युग में छायावाद को पन्तजी ने अपनी कोमल-कान्त पदावली से और प्रकृति के सजीव चित्रण से सौम्य और सुन्दर बना दिया है और प्रगतिवाद को भी वास्तव में प्रगति देने में कविवर का अपना विशेष स्थान रहा है। जीवन के बढ़ते दिनों में अध्यात्मवाद को अरविंद के प्रभाव में प्रस्तुत कर उन्होंने मानो जीवन के तीन चरणों को ही सार्थक कर दिया हो। उनका कवि नित्य ही विकासोन्मुख रहा है।

पंतजी की कुल २८ रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं और हिन्दी साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती हैं। उनका जन्म संवत् १९५८ में हुआ। उनकी प्रधान रचनाएं हैं—पल्लव, ग्रंथि, गुंजन, युगान्त-युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्णभूमि, स्वर्णकिरण, उत्तरा, युगपथ, अतिमा, कला और बूढ़ा चांद, लोकायतन। १९६९ में काव्यसंग्रह 'चिदम्बरा' पर एक लाख का ज्ञान पीठ पुरस्कार उन्हें प्राप्त हुआ।

मौन निमन्त्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन!

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास;
प्रखर झरती जब पावस धार;
न जाने, लपक तड़ित् में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन!

देख वसुधा का यौवन भार
गूंज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास
न जाने, सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन!

क्षुब्ध जल शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथकर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने, मुझे बुलाता मौन!

स्वर्ण, सुख, श्री सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग कुल की कल कंठ हिलोर
मिला देती भू नभ के छोर,
न जाने, अलस पलक दल कौन
खोल देता तब मेरे भौन।

तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,

भीरु झींगुर कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार ;
न जाने खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखाता तब मौन !

कनक छाया में, जब की सकाल
खोलती कलिका 'उर के द्वार,
सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुंजार ;
न जाने, ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग् मौन !

बालापन

वह ज्योत्स्ना से हर्षित मेरा
कलित कल्पनामय संसार,
तारों के विस्मय से विकसित
विपुल भावनाओं का हार;

अहो कल्पनामय ! फिर रच दो
वह मेरा निर्भय अज्ञान,
मेरे अधरों पर वह माँ के
दूध से धुली मृदुल मुस्कान।

इस अभिमानी अंचल में फिर
अंकित कर दो, विधि ! अकलंक,
मेरा छीना बालापन फिर
करुण ! लगा दो मेरे अंक !

विहग बालिका का सा मृदु स्वर
अर्ध खिले, नव, कोमल अंग,
क्रीड़ा कौतूहलता मन की,
वह मेरी आनन्द उमंग,

अहो दयामय ! फिर लौटा दो
मेरी पद प्रिय चंचलता,
तरल तरंगों सी वह लीला,
निर्विकार भावना लता।

धूलभरे, घुंघराले, काले,
भय्या को प्रिय मेरे बाल,
माता के चिर चुम्बित मेरे
गोरे, गोरे, सस्मित गाल,

हे विधि ! फिर अनुवादित कर दो
उसी सुधा स्मिति में अनुपम
माँ के तन्मय उर से मेरे
जीवन का तुतला उपक्रम !

प्रथम रश्मि

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि ! तूने कैसे पहिचाना ?
कहाँ, कहाँ, हे बाल-विहंगिनि ! पाया तूने यह गाना ?

सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में पंखों के सुख में छिपकर,
ऊँघ रहे थे, घूम द्वार पर प्रहरी से जुगुनू नाना !

शशि-किरणों से उतर-उतर कर भू पर काम-रूप नभचर,
चूम नवल कलियों का मृदु मुख सिखा रहे थे मुसकाना !

स्नेह-हीन तारों के दीपक, श्वास-शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में, तम ने था मण्डप ताना।

कूक उठी सहसा तरु-वासिनी ! गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अन्तर्यामिनि ! बतलाया उसका आना।

निकल सृष्टि के अन्ध गर्भ से छाया-तन वहु, छाया-हीन,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर चला कुहुक, टोना-माना।

छिपा रही थी मुख शशि-बाला निशि के श्रम से हो श्री-हीन,
कमल-क्रोड़ में बन्दी था अलि, कोक-शोक से दीवाना।

मूर्छित थीं इन्द्रियाँ स्तब्ध जग जड़-चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर में केवल साँसों का आना-जाना।

तूने ही पहले बहुदर्शिनि ! गाया जागृत का गाना,
श्री, सुख, सौरभ का नभ-चारिणि ! गूँथ दिया ताना-बाना।

निराकार-तम मानो सहसा ज्योति-पुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगज्जाल में धरकर नाम-रूप नाना।

सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल, सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम-अधरों पर हिल मोती का सा दाना।

खुले पलक, फैली सुवर्ण-छवि, खिली सुरभि, डोले मधु-बाल,
स्पन्दन, कम्पन, नव-जीवन फिर सीखा जग ने अपनाना।

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि ! तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ, हे बाल-विहंगिनि ! पाया यह स्वर्गिक गाना ?

वाणी

तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

भव-कर्म आज युग की स्थितियों से है पीड़ित,
जग का रूपान्तर भी जनैक्य पर अवलम्बित,
तुम रूप कर्म से मुक्त, शब्द के पंख मार,
कर सको सुदूर मनोनभ में जन के विहार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

चित शून्य—आज जग, नव निनाद से हो गुंजित
मत जड़—उसमें नव स्थितियों के गुण हो जागृत
तुम जड़ चेतन की सीमाओं के आर पार
झंकृत भविष्य का सत्य कर सको स्वराकार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक शब्द,
ज्योतित कर जन मन के जीवन का अन्धकार,
तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

लहरों का गीत

अपने ही सुख से चिर चंचल
हम खिल-खिल पड़ती हैं प्रतिपल,
जीवन के फेनिल मोती को
ले-ले चल करतल के टलमल।

जाने किस मधु का मलय-परस
करता प्राणों को पुलकाकुल,
जीवन की लहलह लतिका में
विकसा इच्छा के नव-नव दल

सुन-सुन मधु-मुरली की मृदुध्वनि,
गृह-पुलिन नाँघ, सुख से विह्वल,
हम हुलस नृत्य करतीं हिलमिल,
खस-खस पड़ता उर से अंचल।

चिर जन्म मरण को हँस-हँसकर,
हम आलिंगन करतीं पल-पल
फिर-फिर निस्तल से उठ-उठकर
फिर-फिर उसमें हो-हो ओझल।

मानव-जीवन

मैं नहीं चाहता चिर सुख
चाहता नहीं अविरत दुख।
सुख-दुख की खेल-मिचौनी,
खोले जीवन अपना मुख।।

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि में ओझल हो घन।।

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से।
मानव जग में बँट जायें
दुख सुख से औ' सुख दुख से।।

अविरल दुख है उत्पीड़न,
अविरल सुख भी उत्पीड़न।

दुख-सुख की निशा-दिवा में
सोता-जगता जग-जीवन ।।
वह साँझ-ऊषा का आँगन,
आलिंगन विरह-मिलन का।
चिर हास-अश्रुमय आनन
रे! इस मानव-जीवन का!

कोकिल

गा, कोकिल, बरसा पावक-कण!
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण-पुरातन
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़-बन्धन;
पावक-पग धँस आये नूतन,
हो पल्लवित नवल मानवपन!

गा, कोकिल, भर स्वर में कंपन!
झरें जाति-कुल-वर्ण-पर्ण घन,
अंध-नीड़ से रूढ़ि-रीति छन;
व्यक्ति-राष्ट्रगत राग-द्वेष-रण
झरें, मरें विस्मृति में तत्क्षण!

गा, कोकिल, गा, कर मत चिंतन!
नवल रुधिर से भर पल्लव-तन
नवल स्नेह-सौरभ से यौवन;
कर मंजरित नव्य जग-जीवन,
गूँज उठें, पी-पी नव मधु जन!

गा, कोकिल, नव गान कर सृजन!
रच मानव हित नूतन मन,
वाणी, वेश, भाव, नव शोभन;

स्नेह, सुहृदयता हो मानस-धन,
सीचें जन नव जीवन-यापन !

गा, कोकिल, सन्देश सनातन !
मानव दिव्य स्फुलिंग चिरंतन,
वह न देह का नश्वर रज-कण;
देश काल हैं उसे न बन्धन,
मानव का परिचय मानवपन !
गा, कोकिल, मुकुलित हों दिशि क्षण !

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

श्री 'निराला' जी का जन्म संवत् १९५३ की वसंत पंचमी को बंगाल में हुआ था। आपके पिताजी वैसे तो उत्तरप्रदेश के निवासी थे, पर बंगाल में नौकरी करते थे। अतः निराला जी का प्रारम्भिक जीवन बंगाल में बीता। वहीं रहकर उन्होंने संस्कृत, बंगला, संगीत और दर्शनशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। इन सबका प्रभाव इनके काव्य पर स्पष्ट है। निराला जी छायावादी कविता के प्रमुख कवियों में से थे। ये हिन्दी के युगान्तरकारी कवि माने जाते थे। प्रसादजी की भांति निरालाजी की कविता में दार्शनिकता और आध्यात्मिकता का हमें दर्शन होता है। हिन्दी में मुक्त-छन्द के प्रणेता आप ही थे। गीतिकाव्य का प्रचलन भी हिन्दी में इन्होंने ही किया था।

निरालाजी ने अपनी कुछ रचनाओं को संगीत के स्वरों में बाँधा था। 'भिक्षुक', 'विधवा', 'तोड़ती पत्थर' आदि आपकी प्रगतिवादी कविताएँ हैं। संवत् २०१८ (अक्तूबर, सन् १९६१) में आपका स्वर्गवास हो गया।

आपकी प्रमुख रचनाएँ ये हैं : काव्य—अनामिका, परिमल, गीतिका, आराधना, अर्चना, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, बेला, नये, पत्ते आदि; उपन्यास—अलका, निरुपमा, अप्सरा आदि; कहानी-संग्रह—लिली, सखी आदि।

क्या गाऊँ

क्या गाऊँ ?—माँ ! क्या गाऊँ ?

गूँज रही हैं जहाँ राग-रागिनियाँ
गाती हैं किन्नरियाँ—कितनी परियाँ,
कितनी पंचदशी कामिनियाँ;

वहाँ एक यह लेकर वीणा दीन,
तंत्री क्षीण,—नहीं जिसमें कोई झंकार नवीन,
रुद्ध कंठ का राग अधूरा कैसे तुझे सुनाऊँ?
माँ ?—क्या गाऊँ ?

छाया है मन्दिर में तेरे यह कितना अनुराग।
चढ़ते हैं चरणों पर कितने फूल
मृदु दल सरस पराग !
गंध-मोद-मद पीकर मंद समीर
शिथिल चरण जब कभी बढ़ाती आती
सजे हुए बजते उसके अधीर नूपुर-मंजीर !
कहाँ एक निर्गन्ध कुसुम उपहार,
नहीं कहीं जिसके पराग-संचार सुरभि संसार।
कैसे भला चढ़ाऊँ ?
माँ !—क्या गाऊँ ?

अभी न होगा मेरा अन्त

अभी न होगा मेरा अन्त !
अभी-अभी ही तो आया है
मेरे वन में मृदुल वसंत—
अभी न होगा मेरा अन्त

हरे-हरे ये पात,
डालियाँ, कलियाँ कोमल गात।
मैं ही अपना स्वप्न-मृदुल कर
फेरूंगा निद्रित कलियों पर
जगा एक प्रत्यूष मनोहर

पुष्प-पुष्प में तन्द्रालस लालसा खींच लूँगा मैं।
अपने नव जीवन का अमृत सहर्ष खींच दूँगा मैं,
द्वार दिखा दूँगा फिर उनको
हैं मेरे वे जहाँ अनन्त—
अभी न होगा मेरा अन्त !

मेरे जीवन का यह है जब प्रथम चरण,
इसमें कहाँ मृत्यु
है जीवन ही जीवन
अभी पड़ा है आगे सारा यौवन;
स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता, रे, यह बालक-मन,
मेरे ही अविकसित राग से
विकसित होगा बन्धु दिगन्त—
अभी न होगा मेरा अन्त !

तुम और मैं

तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचलगति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास, और मैं कान्त कामिनी कविता॥
तुम प्रेम और मैं शान्ति।
तुम सुरापान-घन अन्धकार, मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति॥
तुम दिनकर के खर-किरण जाल, मैं सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग, मैं हूँ पिछली पहचान॥
तुम योग—और मैं सिद्धि।
तुम हो रागानुग निश्छल तप; मैं सुचिता सरल समृद्धि॥
तुम मृदु मानस के भाव; और मैं मनोरंजिनी भाषा।
तुम नन्दन-वन घन-विटप, और मैं सुख-शीतल तल शाखा॥
तुम प्राण—और मैं काया।

तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म, मैं मनोमोहिनी माया॥
तुम प्रेममयी के कण्ठहार, मैं वेणी काल-नागिनी।
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार, मैं व्याकुल विरह रागिनी॥
तुम पथ हो; मैं हूँ रेणु।
तुम हो राधा के मन-मोहन, मैं उन अधरों की वेणु॥
तुम पथिक हृदय की श्रान्ति, और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भव-सागर दुस्तार, पार जाने की मैं अभिलाषा॥
तुम नभ हो, मैं नीलिमा।
तुम शरद्-सुधाकर कला-हास, मैं हूँ निशीथ मधुरिमा॥
तुम गंध-कुसुम कोमल पराग, मैं मृदुगति मलय-समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति-प्रेम-जंजीर॥
तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति।
तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र मैं सीता अचला भक्ति॥
तुम आशा के मधुमास, और मैं पिक-कल-कूजन-तान।
तुम मदन-पंचशर हस्त और मैं हूँ मुग्धा अनजान॥
तुम अम्बर, मैं दिग्वसना!
तुम चित्रकार घन पटल-श्याम, मैं तड़ित्तूलिका रचना॥
तुम रण-ताण्डव उन्माद-नृत्य, मैं मुखर मधुर-नूपुर-ध्वनि।
तुम नाद-वेद-ओंकार-सार, मैं कवि शृंगार-शिरोमणि॥
तुम यश हो, मैं हूँ प्राप्ति।
तुम कुन्द-इन्दु अरविन्द शुभ्र, तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति॥

प्रभाती

प्रिय, मुद्रित दृग् खोलो।
गत स्वप्न, निशा का तिमिर जाल
नव किरणों से धो लो—
मुद्रित दृग् खोलो!

जीवन-प्रसून वह वृन्तहीन
खुल गया उषा-नभ में नवीन
धाराएँ ज्योति-सुरभि उर भर
बह चलीं चतुर्दिक् कर्म-लीन,
तुम भी निज तरुण-तरंग खोलो
नव अरुण-संग हो लो—
मुद्रित दृग् खोलो !

वासना-प्रेयसी बार-बार
श्रुति-मधुर मन्द स्वर से पुकार
कहती, प्रतिदिन के उपवन के
जीवन में, प्रिय आई बहार
बहती इस विमल वायु में
बह चलने का बल तोलो—
मुद्रित दृग् खोलो !

भारत की विधवा

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है ।

षड्ऋतुओं का शृंगार
कुसुमित कानन में नीरव पद-संचार,
अमर कल्पना में स्वच्छन्द विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है,
उसका एक स्वप्न अथवा है ।

उसके मधु-सुहाग का दर्पण,
जिसने देखा था उसने
बस एक बार बिम्बित अपना जीवन-धन
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा—वह ध्रुवधारा—
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा।

है करुणा-रस से पुलकित इसकी आँखें,
देखा तो भीगी मन-मधुकर की पाँखें,
मृदु रसावेश में निकला जो गुञ्जार
वह और न था कुछ, था बस हाहाकार,

उस करुणा की सरिता के मिलन-पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ाकर,
अति छिन्न हुए भीगे अंचल में मन को—
मुख-सूखे, सूखे अधर—त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नज़रों से दूर बचाकर
है रोती अस्फुट स्वर में,
सुनता है आकाश धीर, निश्चल समीर—
मृदु सरिता की लहरें भी ठहर-ठहर कर

यह दुःख वह, जिसका नहीं कुछ छोर है,
दैव ! अत्याचार कैसा घोर और कठोर है !
क्या कभी पोंछे किसी के अश्रुजल ?
या किया करते रहे सबको विकल !
ओसकण-सा पल्लवों से झर गया
जो अश्रु, भारत का उसी से सर गया ॥

जागो फिर एक बार

जागो फिर एक बार !

प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण पंख तरुण किरण
खड़ी खोलती है द्वार
जागो फिर एक बार !
आंखें अलियों सी
किस मधु की गलियों में फँसीं,
बन्द कर पाँखें
पी रही हैं मधु मौन
या सोई कमल कोरकों में ?
बन्द हो रहा गुंजार
जागो फिर एक बार !

अस्ताचल ढले रवि,
शशि छवि विभावरी में
चित्रित हुई है देख
यामिनी गन्धा जगी,
एक टक चकोर दर्शन प्रिय,
आशाओं भरी मौन भाषा बहुभावमयी
घेर रहा चन्द्र को चाव से,
शिशिर भार व्याकुल कुल
खुले फूल झुके हुए,
आया कलियों में मधुर
मद उर यौवन भार
जागो फिर एक बार !

पिउ रव पपीहे प्रिय बोल रहे,
सेज पर विरह विदग्धा वधू
याद कर बीती बातें, रातें मन मिलन की
मूँद रही पलकें चारु,
नयन जल ढल गए,
लघुतर कर व्यथा भार
जागो फिर एक बार !

सहृदय समीर जैसे
पोंछो प्रिय, नयन नीर
शयन शिथिल बाँहें
भर स्वप्निल आवेश में,
आतुर उर वसन मुक्त कर दो
सब सुप्ति सुखोन्माद हो ;
छूट-छूट अलस
फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल
ऋजु कुटिल प्रसारकामी केश गुच्छ।
तन मन थक जाएँ,
मृदु सुरभि सी समीर में
बुद्धि बुद्धि में हो लीन,
मन में मन जी जी में,
एक अनुभव बहता रहे
उभय आत्माओं में,
कब से मैं रही पुकार
जागो फिर एक बार !

उगे अरुणाचल में रवि
आई भारती रति कवि कण्ठ में,
क्षण-क्षण में परिवर्त्तित
होते रहे प्रकृति-पट,
गया दिन, आई रात,
गई रात, खुला दिन,
ऐसे ही संसार के बीते दिन-पक्ष-मास,
वर्ष कितने हज़ार
जागो फिर एक बार !

भिक्षुक

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।

पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी-भर दाने को —भूख मिटाने को
मुँहफटी पुरानी झोली को फैलाता।
दो टूक कलेजे के करता-पछताता पथ पर आता।

साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाये,
बायें से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाये।
भूख से सूख ओंठ जब जाते,
दाता-भाग्यविधाता से क्या पाते ?
घूंट आँसुओं के पीकर रह जाते।

चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।
ठहरो, अहा मेरे हृदय में है अमृत,
मैं सींच दूँगा,
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम,
तुम्हारे दुख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा।

महादेवी वर्मा

छायावादी युग के चार प्रधान कवियों में महादेवी वर्मा अपना विशेष स्थान रखती हैं। हिन्दी साहित्य को और छायावादी साहित्य को करुणा की कोमल भावधारा में बहानेवाली महादेवी वास्तव में 'नीर-भरी जल बदरी'-सी लगती हैं जो उमड़कर सब लोगों को अपनी करुणा में भिगो देंगी, कहते नहीं बनता। उनकी रचनाओं में रहस्यवादी भाव-धारा की प्रधानता पाई जाती है और आज भी अगर कोई रहस्यवादी विचारधारा का कवि रह गया है तो वे महादेवी ही हैं।

महादेवीजी का जन्म संवत् १६६४ में हुआ। आपकी कविताओं में दु:खवाद का सजीव अंकन हुआ है और आपकी रचनाएँ स्वानुभूतिपरक होने के कारण सजीव बन पड़ी हैं। आप प्रयाग महिला विद्यापीठ में प्रधान अध्यापिका के नाते वर्षों से सम्बद्ध हैं। आपने गद्य भी लिखा है। नारी की समाज में दयनीय स्थिति का उनकी रचनाओं में सुन्दर अंकन हुआ है।

आपकी प्रमुख रचनाएँ ये हैं—'नीहार', 'रश्मि', नीरजा,' 'सांध्य-गीत', 'दीपशिखा' और 'यामा' कविता-संग्रह; श्रृंखला की कड़ियां', 'अतीत के चल-चित्र' संस्मरणात्मक निबंध-संग्रह; 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' छ: साहित्यिक निबन्धों का संग्रह।

मेरे दीपक

मधुर मधुर मेरे दीपक जल !
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर !

सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम-सा घुल रे मृदु तन,

दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल-गल !
पुलक पुलक मेरे दीपक जल !

सारे शीतल कोमल नूतन,
माँग रहे तुझसे ज्वाला-कण;
विश्व-शलभ सिर धुन कहता 'मैं
हाय, न जल पाया तुझमें मिल !'
सिहर सिहर मेरे दीपक जल !

जलते नभ में देख असंख्यक,
स्नेहहीन नित कितने दीपक,
जलमय सागर का उर जलता,
विद्युत् ले गिरता है बादल !
विहँस-विहँस मेरे दीपक जल !

द्रुम के अंग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयंगम ;
वसुधा के जड़ अन्तर में भी
बन्दी है तापों की हलचल !
बिखर-बिखर मेरे दीपक जल !

मेरी निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर;
मैं अंचल की ओट किये हूँ,
अपनी मृदु पलकों से चंचल !
सहज सहज मेरे दीपक जल !

सीमा की लघुता का बन्धन,
है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;
मैं दृग् के अक्षय कोषों से
तुझमें भरती हूँ आँसू-जल !
सजल सजल मेरे दीपक जल !

तम असीम तेरा प्रकाश चिर,
खेलेंगे नव खेल निरन्तर;
तम के अणु-अणु में विद्युत्-सा—
अमिट चित्र अंकित करता चल !
सरल सरल मेरे दीपक जल !

तू जल जल जितना होता क्षय,
वह समीप आता छलनामय ;
मधु मिलन में मिट जाना तू—
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल खिल !
मदिर मदिर मेरे दीपक जल !
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर !

जाग तुझको दूर जाना !

चिर सजग आँखें उनींदी, आज कैसा व्यस्त बाना !
जाग तुझको दूर जाना !

अचल हिमगिरि के हृदय में आज चाहे कम्प हो ले,
या प्रलय के आँसुओं में मौन अलसित व्योम रो ले,
आज पी आलोक को डोल तिमिर की घोर छाया,
जाग या विद्युत्-शिखाओं में निठुर तूफान बोले,

पर तुझे है नाश-पथ पर चिह्न अपने छोड़ आना !
जाग तुझको दूर जाना !

बाँध लेंगे क्या तुझे यह मोम के बन्धन सजीले ?
पन्थ की बाधा बनेंगे तितलियों के पर रँगीले ?
विश्व का क्रन्दन भुला देगी मधुप की मधुर गुनगुन,
क्या डुबा देंगे तुझे यह फूल के दल ओस-गीले ?
तू न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना !
जाग तुझको दूर जाना !

वज्र का उर एक छोटे अश्रुकरण में धो गलाया,
दे किसे जीवन-सुधा दो घूंट मदिरा माँग लाया ?
सो गई आँधी मलय की बात का उपधान लेकर।
विश्व का अभिशाप क्या चिर नींद बनकर पास आया ?
अमरता-सुत चाहता क्यों मृत्यु को उर में बसाना ?
जाग तुझको दूर जाना !

कह न ठंडी साँस में अब भूल वह जलती कहानी,
आग हो उर में तभी दृग् में सजेगा आज पानी;
हार भी तेरी बनेगी मानिनी जय की पताका,
राख क्षणिक पतंग की है अमर दीपक की निशानी !
है तुझे अंगार-शय्या पर मृदुल कलियाँ बिछाना !
जाग तुझको दूर जाना !

फूल

मधुरिमा के, मधु के अवतार
सुधा से, सुषमा से छविमान,
आँसुओं में सहमे अभिराम
तारकों से हे मूक अजान !

सीखकर मुस्काने की बान
कहाँ आये हो कोमल प्राण ?

स्निग्ध रजनी से लेकर हास
रूप से भर कर सारे अंग,
नये पल्लव का घूंघट डाल
अछूता ले अपना मकरन्द
ढूंढ़ पाया कैसे यह देश
स्वर्ग के हे मोहक सन्देश ?

रजत किरणों से नैन पखार
अनोखा ले सौरभ का भार,
छलकता लेकर मधु का कोष,
चले आये एकाकी पार
कहो क्या आये हो पथ भूल,
मंजु छोटे मुस्काते फूल ?

उषा के से आरक्त कपोल
किलक पड़ता तेरा उन्माद,
देख तारों के बुझते प्राण
न जाने क्या आ जाता याद ?
हेरती है सौरभ की हाट
कहो किस निर्मोही की बाट ?

चाँदनी का शृंगार समेट
अधखुली आँखों की यह कोर,
लुटा अपना यौवन अनमोल
ताकती किस अतीत की ओर ?
जानते हो यह अभिनव प्यार
किसी दिन होगा कारागार ?

नहीं है वह सम्मोहन राग
खींच लाया तुमको सुकुमार ?
तुम्हें भेजा जिसने इस देश
कौन वह है निष्ठुर कर्तार ?
हँसो पहनो काँटों के हार
मधुर भोलेपन के संसार ?

सुभद्राकुमारी चौहान

स्व० श्रीमती सुभद्राकुमारी जी का जन्म संवत् १९६१ में इलाहाबाद में हुआ और विवाह मध्यप्रदेश में हुआ। संवत् २००८ में मोटर-दुर्घटना के कारण आपका स्वर्गवास हो गया। सुभद्राजी में बचपन से ही कविता लिखने की रुचि थी। उनके पति ठाकुर लक्ष्मणसिंह के साहित्य-प्रेम ने उसका विकास किया। सुभद्राजी राष्ट्रसेविका भी थीं। महात्मा गांधी के सत्याग्रह आंदोलन में भाग लेने के कारण आपको जेल-यात्रा भी करनी पड़ी थी। आप मध्यप्रदेश की विधान सभा की सदस्या थीं।

सुभद्राजी की कविता की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सरलता है। वीररस से ओतप्रोत इनकी कई कविताएँ बड़ी ही लोकप्रिय हैं। 'झांसी की रानी' शीर्षक कविता तो हिन्दी की अमर रचना है। मातृत्व के बड़े ही मार्मिक चित्र आपने अपनी रचनाओं में अंकित किए हैं। बचपन का मनोहारी चित्रण भी उनमें है। भाषा की सरलता' शैली की स्वाभाविकता तथा भावना की उच्चता के कारण सुभद्राजी की कविता हिन्दी साहित्य में सदा अविस्मरणीय रहेगी।

आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं : काव्य—मुकुल और त्रिधारा; कहानियां—बिखरे मोती, उन्मादिनी आदि।

झाँसी की रानी

(१)

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी,
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी,

चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥

(२)

कानपुर के नाना की मुँहबोली बहन 'छबीली' थी,
लक्ष्मीबाई नाम पिता की वह संतान अकेली थी,
नाना के सँग पढ़ती थी वह, नाना के सँग खेली थी,
बरछी, ढाल, कृपाण, कटारी, उसकी यही सहेली थी,
वीर शिवाजी की गाथाएँ उसको याद ज़बानी थीं।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥

(३)

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उसके तलवारों के वार,
नकली युद्ध, व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार,
सैन्य घेरना, दुर्ग तोड़ना ये थे उसके प्रिय खिलवार,
महाराष्ट्र-कुल-देवी उसकी भी आराध्य भवानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥

(४)

हुई वीरता की वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
ब्याह हुआ, रानी बन आई लक्ष्मीबाई झाँसी में,
राजमहल में बजी बधाई खुशियाँ छाई झाँसी में,
सुभट बुन्देले की विरुदावलि-सी वह आई झाँसी में,
चित्रा ने अर्जुन को पाया, शिव से मिली भवानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥

(५)

उदित हुआ सौभाग्य ! मुदित महलों में उजियाली छाई,
किन्तु काल-गति चुपके-चुपके काली घटा घेर लाई,
तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़ियाँ कब भाईं,
रानी विधवा हुई हाय! विधि को भी नहीं दया आई,
नि:सन्तान मरे राजाजी, रानी शोक समानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो भाँसीवाली रानी थी।।

(६)

बुझा दीप झाँसी का, तब डलहौजी मन में हरषाया,
राज्य हड़प करने का उसने यह अवसर अच्छा पाया,
फौरन फौजें भेज दुर्ग पर अपना झण्डा फहराया,
लावारिस का वारिस बनकर ब्रिटिश राज्य झाँसी आया,
अश्रुपूर्ण रानी ने देखा झाँसी हुई बिरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी।।

(७)

अनुनय विनय नहीं सुनता है, विकट शासकों की माया,
व्यापारी बन दया चाहता था यह जब भारत आया,
डलहौजी ने पैर पसारे अब तो पलट गई काया,
राजा और नवाबों को भी उसने पैरों ठुकराया,
रानी दासी बनी, बनी वह दासी जब महारानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।।

(८)

छिनी राजधानी देहली की लखनऊ छीना बातोंबात,
कैद पेशवा था बिठूर में हुआ नागपुर का भी घात,

उदयपुर, तंजोर, सतारा, कर्नाटक की कौन बिसात,
जब कि सिंध, पंजाब, ब्रह्म पर अभी हुआ था वज्र-निपात,
बंगाले, मद्रास आदि की भी तो वही कहानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥

(९)

रानी रोई रनिवासों में बेगम गम से थीं बेजार,
उनके कपड़े-गहने बिकते थे कलकत्ते के बाज़ार,
सरेआम नीलाम छापते थे अंग्रेज़ों के अखबार,
'नागपुर के ज़ेवर ले लो', 'लखनऊ के लो नौलखहार',
यों परदे की इज्ज़त परदेशी के हाथ बिकानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥

(१०)

कुटियों में थी विषम वेदना महलों में आहत अपमान,
वीर सैनिकों के मन में था अपने पुरखों का अभिमान,
नाना धुन्दूपंत पेशवा जुटा रहा था सब सामान,
बहन छबीली ने रणचंडी का कर दिया प्रकट आह्वान,
हुआ यहीं प्रारम्भ, उन्हें तो सोई ज्योति जगानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(११)

महलों ने दी आग, झोंपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी,
यह स्वतन्त्रता की चिनगारी अन्तरतम से आई थी,
झाँसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छाई थीं,
मेरठ, कानपुर, पटना ने भी भारी धूम मचाई थी,

जबलपुर, कोल्हापुर में भी कुछ हलचल उकसानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।।

(१२)

इनकी गाथा छोड़, चलें हम झाँसी के मैदानों में,
जहाँ खड़ी थी लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानों में,
लेफ्टिनेंट बाकर आ पहुँचा आगे बढ़ा जवानों में,
रानी ने तलवार खींच ली, हुआ द्वन्द्व असमानों में,
ज़ख्मी होकर बाकर भागा, उसे अजब हैरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी।।

(१३)

रानी बढ़ी, कालपी आई, कर सौ मील निरन्तर पार,
घोड़ा थककर गिरा भूमि पर, गया स्वर्ग तत्काल सिधार,
यमुना-तट पर अंग्रेज़ों ने फिर खाई रानी से हार,
विजयी रानी आगे चल दी किया ग्वालियर पर अधिकार,
अंग्रेज़ों के मित्र सिंधिया ने छोड़ी रजधानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी।।

(१४)

विजय मिली पर अंग्रेज़ों की फिर सेना घिर आई थी,
अब के जनरल स्मिथ सम्मुख था उसने मुँह की खाई थी,
काना और मंदरा सखियाँ रानी के संग आई थीं,
युद्ध-क्षेत्र में उन दोनों ने मारी मार मचाई थी,
पर, पीछे ह्यू रोज़ आ गया, हाय घिरी अब रानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी।।

(१५)

तो भी रानी मार-काट कर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था यह संकट विषम अपार,
घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था, इतने में आ गये सवार,
रानी एक, शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार पर वार,
घायल होकर गिरी सिंहनी उसे वीरगति पानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी ।।

(१६)

रानी गई सिधार ! चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी,
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी,
अभी उम्र कुल तेईस की थी, मनुज नहीं, अवतारी थी,
हमको जीवित करने आई बन स्वतन्त्रता नारी थी,
दिखा गई पथ, सिखा गई हमको जो सीख सिखानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी।।

(१७)

जाओ रानी, याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी,
होवे चुप इतिहास, लगे सच्चाई को चाहे फाँसी,
हो मदमाती विजय मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी,
तेरा स्मारक तू ही होगी, तू खुद अमिट निशानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी।।

मेरा जीवन

मैंने हँसना सीखा है,
मैं नहीं जानती रोना।
बरसा करता पल-पल पर
मेरे जीवन में सोना।

मैं अब तक जान न पाई
कैसी होती है पीड़ा।
हँस-हँस जीवन में कैसे
करती है चिन्ता क्रीड़ा।

जग है असार सुनती हूं
मुझको सुख-सार दिखाता।
मेरी आँखों के आगे
सुख का सागर लहराता।

कहते हैं होती जाती
खाली जीवन की प्याली।
पर मैं उसमें पाती हूं
प्रतिपल मदिरा मतवाली।

उत्साह, उमंग निरंतर
रहते मेरे जीवन में।
उल्लास-विजय था हँसता
मेरे मतवाले मन में।

आशा आलोकित करती
मेरे जीवन को प्रतिक्षण।
हैं स्वर्ण-सूत्र से वलयित
मेरी असफलता के घन।

सुख भरे सुनहले बादल,
रहते हैं मुझको घेरे
विश्वास, प्रेम, साहस हैं
जीवन के साथी मेरे।

ठुकरा दो या प्यार करो

देव! तुम्हारे कई उपासक कई ढंग से आते हैं।
सेवा में बहुमूल्य भेंट वे कई रंग की लाते हैं॥

धूमधाम से साजबाज से मन्दिर में वे आते हैं।
मुक्ता-मणि बहुमूल्य वस्तुएँ लाकर तुम्हें चढ़ाते हैं॥

मैं ही हूँ गरीबिनी ऐसी जो कुछ साथ नहीं लाई।
फिर भी साहस कर मन्दिर में पूजा करने हूँ आयी॥

धूप दीप नैवेद्य नहीं है झाँकी का शृंगार नहीं।
हाय! गले में पहनाने को फूलों का भी हार नहीं॥

कैसे स्तुति मैं करूँ तुम्हारी, है स्वर में माधुर्य नहीं।
मन का भाव प्रकट करने को वाणी में चातुर्य नहीं॥

नहीं दान है, नहीं दक्षिणा खाली हाथ चली आयी।
पूजा की विधि नहीं जानती फिर भी नाथ! चली आयी॥

पूजा और पुजापा प्रभुवर! इसी पुजारिन को समझो।
दान दक्षिणा और निछावर इसी भिखारिन को समझो॥
मैं उन्मत्त प्रेम की लोभी हृदय दिखाने आयी हूँ।
जो कुछ है, बस, यही पास है; इसे चढ़ाने आयी हूँ॥
चरणों पर अर्पित है, इसको चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है—ठुकरा दो या प्यार करो॥

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

श्री नवीनजी राष्ट्रीय चिंतनधारा के अत्यन्त प्रभावशाली कवि थे। आपका जन्म संवत् १९५४ में उज्जैन के समीप मयाना में हुआ था। ये साहित्यकार और राजनीतिज्ञ दोनों एक साथ थे। दोनों में इन्हें सम्यक् सफलता प्राप्त हुई थी। नवीनजी ओजपूर्ण वक्ता तथा श्रेष्ठ पत्रकार भी थे।

कविरूप में नवीनजी सदा प्रगतिशील रहे। युग की विविध भावनाओं और विभिन्न परिस्थितियों का यथार्थ दर्शन आपकी रचनाओं में परिलक्षित होता है। राष्ट्रीयता, क्रांति, विद्रोह आदि आपकी कविता के मूल स्वर हैं। बाद की रचनाओं में दार्शनिकता का पुट भी दृष्टिगोचर होता है। कुछ रूमानी कविताएँ भी आपने लिखी हैं। संवत् २०१७ (सन् १९६०) में आपका देहावसान हो गया।

आपकी प्रमुख रचनाएँ है—अपलक, क्वासि, रश्मिरेखा, कुंकुम आदि।

हिन्दुस्थान हमारा है

कोटि-कोटि कण्ठों से निकली आज यही स्वरधारा है।
भारतवर्ष हमारा है, यह हिन्दुस्थान हमारा है।

जिस दिन सबसे पहले जागे, नवल सृजन के स्वप्न घने,
जिस दिन देश-काल के दो-दो विस्तृत विमल वितान तने,
जिस क्षण में नभ तारे छिटके, जिस दिन सूरज-चाँद बने,
तब से है यह देश हमारा, यह अभिमान हमारा है।
भारतवर्ष हमारा है, यह हिन्दुस्थान हमारा है ॥ १ ॥

जब कि घटाओं ने सीखा था सबसे पहले घहराना—
पहले पहल प्रभंजन ने जब सीखा था कुछ हहराना,—

जब कि जलधि सब सीख रहे थे सबसे पहले लहराना,—
उसी अनादि-आदि क्षण से यह जन्म-स्थान हमारा है।
भारतवर्ष हमारा है, यह हिन्दुस्थान हमारा है ॥ २ ॥

जिस क्षण से जड़ रजकण गतिमय होकर जंगम कहलाए—
जब कि हँसी प्रथमा ऊषा वह, जब कि कमल-दल मुस्काए—
जब मिट्टी में चेतन चमका, प्राणों के झोंके आए,—
है तब से यह देश हमारा, यह मन-प्राण हमारा है !
भारतवर्ष हमारा है, यह हिन्दुस्थान हमारा है ॥ ३ ॥

यहाँ प्रथम मानव ने खोले निदियारे लोचन अपने !
इसी नभ तले उसने देखे शत-शत नवल सृजन सपने;
यहाँ उठे 'स्वाहा' के स्वर औ' यहाँ 'स्वधा' के मंत्र बने;
ऐसा प्यारा देश पुरातन ज्ञान-विधान हमारा है !
भारतवर्ष हमारा है, यह हिन्दुस्थान हमारा है ॥ ४ ॥

सतलज, व्यास, चिनाव, वितस्ता, रावी सिंधु तरंगवती,—
यह गंगा माता, यह यमुना गहर, लहर-रस रंगमती,—
ब्रह्मपुत्र, कृष्णा, कावेरी, वत्सलता-उत्संगमती,—
इनसे प्लावित देश हमारा, यह रसखान हमारा है !
भारतवर्ष हमारा है, यह हिन्दुस्थान हमारा है ॥ ५ ॥

विंध्य, सतपुड़ा, नागा, खसिया, ये दो औघट घाट महा,—
भारत के पूरब-पश्चिम के ये दो भीम कपाट महा,—
तुंग शिखर, चिर अटल हिमालय है पर्वत सम्राट् यहाँ;
यह गिरिवर बन गया युगों से विजय निशान हमारा है;
भारतवर्ष हमारा है, यह हिन्दुस्थान हमारा है ॥ ६ ॥

क्या गणना है कितनी लम्बी हम सबकी इतिहास-लड़ी ?
हमें गर्व है कि है बहुत ही गहरे अपनी नींव पड़ी।

हमने बहुत बार सिरजी हैं कई क्रांतियां बड़ी-बड़ी,
इतिहासों ने किया सदा ही अतिशय मान हमारा है !
भारतवर्ष हमारा है, यह हिन्दुस्थान हमारा है ॥ ७ ॥

है आसन्न भूत अति उज्ज्वल, है अतीत गौरवशाली,
औ' छिटकी है वर्तमान पर बलि के शोणित की लाली,
नव ऊषा-सी विजय हमारी विहँस रही है मतवाली,
हम मानव को मुक्त करेंगे, यही विधान हमारा है !
भारतवर्ष हमारा है, यह हिन्दुस्थान हमारा है ॥ ८ ॥

गरज उठे चालीस कोटि जन सुन ये वचन उछाह भरे,
काँप उठे प्रतिपक्षी जनगण, उनके अन्तस्तल सिहरे,
आज नये युग के नयनों से ज्वलित अग्नि के पुंज झरे;
कौन सामने आएगा? यह देश महान् हमारा है !
भारतवर्ष हमारा है, यह हिन्दुस्थान हमारा है ॥ ९ ॥

ओ तुम इन्सान उठो

उठो, उठो, ओ नंगो-भूखो, ओ तुम सब इन्सान उठो !
इस गतिमय मानव समूह के ओ प्रचंड अभिमान उठो !
आज मुक्ति के अरमानों ने मिलकर यों ललकारा है;
ओ सब सोनेवाले जागो, गूँज रहा नक्कारा है !
कैसी रात? कहाँ के सपने ? यह नव प्रात पधारा है !
ऐसे हँसते-से प्रभात का तुम करने सम्मान उठो,
उठो, उठो, ओ नंगो-भूखो, ओ तुम सब इन्सान उठो ॥१॥

ले प्राणों के फूल करों में, हिय में अमित उमंग भरे—
कन्धों पर ले विजय-पताका, नयनों में रण-रंग भरे,
नवल प्रात के स्वागत को, तुम चलो वीर निःशंक अरे,

क्या भय? क्या डर? आज झिझक क्या ओ मानव संतान उठो!
उठो, उठो, ओ नंगे-भूखो, ओ तुम सब इन्सान उठो ।। २ ।।

सदियों के आदर्श तुम्हारे मूर्त रूप धर आये हैं,
नव समाज के नवल-सृजन का नया सँदेशा लाये हैं;
दिशि-दिशि में समता-स्थापन के ये अभिनव स्वर छाये हैं;
महाक्रांति के नवविधान हित तुम करने बलिदान उठो!
उठो, उठो ओ नंगो-भूखो, ओ तुम सब इन्सान उठो ।।३।।

अब न आ सके रात भयंकर, ऐसा कुछ गतिचक्र चले,
फिर न अँधेरा छाये जग में, चाल न कोई वक्र चले,
चमके आज़ादी का सूरज, परवशता का अभ्र टले;
शोषण के शासन की इति हो, तुम ऐसा प्रण ठान उठो;
उठो, उठो ओ नंगो-भूखो, ओ तुम सब इन्सान उठो ।।४।।

सभी ओर तव भुजबल अंकित, पृथिवी देखो, हल देखो,
दुनिया-भर के यन्त्र-तन्त्र में तुम अपना कौशल देखो,
भूमंडल के सिरजन में तुम अपनी चहल-पहल देखो,
ज्योति जगाते, भीति भगाते, ओ तुम शांति निशान उठो!
उठो, उठो ओ नंगो-भूखो, ओ तुम सब इन्सान उठो ।।५।।

तुमने पीकर गरल, जगत् को मधुरामृत का दान दिया,
शीतल हुआ जगत् जब तुमने प्रलय-अग्नि का पान किया,
मरण-वरण कर तुमने सबको नव जीवन नव प्राण दिया,
बहुत पिया विष अमृत पिओ अब, त्यागी वीर महान उठो!
उठो, उठो ओ नंगो-भूखो, ओ तुम सब इन्सान उठो ।।६।।

सुलगा दो निज अन्तर्ज्वाला, विकट लपट लंबी धधके,
होवे भस्म दासता, शोषण, ऐसी यह होली भभके;
हो जाओ तुम मुक्त कि विहँसें ये सब तारागण नभ के;

दुर्निवार तुम, सदा मुक्त तुम, करो विजय के गान, उठो।
उठो, उठो ओ नंगो-भूखो, ओ तुम सब इन्सान उठो ॥७॥

विप्लव-गायन

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ— जिससे उथल-पुथल मच जाये,

एक हिलोर इधर से आये—एक हिलोर उधर से आये,
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये,
नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाये,
बरसे आग जलद जल जायें भस्मसात् भूधर हो जायें,
पाप-पुण्य सदसद्भावों की धूल उड़ उठे दायें-बायें,
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूट-टूट गिर जायें,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल-पुथल मच जाये।

माता की छाती का अमृत-मय पय काल-कूट हो जाये,
आँखों का पानी सूखे वे शोणित की घूँटें हो जायें,
एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाये,
अन्धे मूढ़ विचारों की वह अचल शिला विचलित हो जाये,
और दूसरी ओर कँपा देने वाला गर्जन उठ धाये,
अन्तरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल-पुथल मच जाये।

नियम और उपनियमों के ये बन्धन टूट-टूट गिर जायें,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जायें,
शान्ति दण्ड टूटे—उस महारुद्र का सिंहासन थर्राये,
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास विश्व के प्रांगण में घहराये,
नाश ! नाश ! हाँ महानाश की प्रलयंकरी आँख खुल जाये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल-पुथल मच जाये।

सावधान ! मेरी वीणा में चिनगारियाँ आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिजराबें युगलांगुलियाँ ये मेरी ऐंठी हैं,
कण्ठ रुका जाता है, महानाश का गीत रुद्ध होता है,
आग लगेगी क्षण में हृत्तल में अब क्षुब्ध युद्ध होता है,
झाड़ और झंखाड़ व्याप्त है—इस ज्वलन्त गायन के स्वर से,
रुद्ध गीत की क्षुब्ध तान निकली है मेरे अन्तरतर से।

कण-कण में है व्याप्त वही स्वर, रोम-रोम गाता है वह ध्वनि,
वही तान गाती रहती है, काल-कूट फणि की चिन्तामणि,
जीवन-ज्योति लुप्त है—आहा ! गुप्त हैं संरक्षण की घड़ियाँ,
लटक रही हैं प्रतिपल में—इस नाशक संभक्षण की लड़ियाँ।
चकना चूर करो जग को—गूंजे ब्रह्मांड नाश के स्वर से
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान, निकली है मेरे अन्तरतर से।

दिल को मसल-मसल मेहँदी रचता आया हूँ, मैं यह देखो,
एक-एक अंगुलि-परिचालन में नाशक ताण्डव को पेखो,
विश्व-मूर्ति ! हट जाओ—यह बीभत्स प्रहार सहे न सहेगा,
टुकड़े-टुकड़े हो जाओगी, नाश-मात्र अवशेष रहेगा।
आज देख आया हूँ, जीवन के सब राज़ समझ आया हूँ,
भ्रू-विलास में महानाश के पोषक सूत्र परख आया हूँ,
जीवन-गीत भुला दो—कण्ठ मिला दो—मृत्यु गीत के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तरतर से।

रामकुमार वर्मा

वर्माजी का जन्म संवत् १९६२ (१५ नवम्बर, सन् १९०५) को सागर में हुआ। कबीर की रहस्यमय बानी के गहन अध्ययन और मनन तथा पाश्चात्य रहस्यवाद के परिचय ने आपको रहस्यवादी कवि बना दिया है। पर रहस्यवादी अस्पष्टता एवं दुरूहता आपकी कविता में नहीं पाई जाती। गम्भीर चिन्तन तथा आध्यात्मिक अनुभूति का दर्शन इनकी कविता में पाया जाता है। आप छायावाद-काल के प्रतिष्ठित कवि हैं। 'चित्ररेखा' पर आपको देव पुरस्कार प्रदान किया जा चुका है।

वर्माजी नाटककार भी हैं। हिन्दी एकांकियों के सफल रूप को प्रस्तुत करने वाले ये सर्वप्रथम एकांकीकार हैं। इनके नाटकों की विशेषता उनकी अभिनेयता है। वे रंगमंग पर सफलतापूर्वक खेले जा सकते हैं। इनके एकांकी सामाजिक समस्याओं और ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर लिखे गए हैं। वर्माजी ने आलोचनात्मक लेखों की भी रचना की है। आप इतिहास-लेखक भी हैं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में आप प्राध्यापक हैं।

वर्माजी की प्रमुख रचनाएँ ये हैं: काव्य—रूपराशि, चन्द्र किरण, चित्ररेखा, हिमहास आदि ; एकांकी—रेशमी टाई, चारुमित्रा, रजत-रश्मि, दीपदान आदि।

ये गजरे तारों वाले

इस सोते संसार बीच
जगकर सजकर रजनी बाले !
कहाँ बेचने ले जाती हो
ये गजरे तारों वाले ?
मोल करेगा कौन,
सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी।

मत कुम्हलाने दो,
सूनेपन में अपनी निधियाँ न्यारी ॥
निर्भर के निर्मल जल में,
ये गजरे हिला-हिला धोना।
लहर हहरकर यदि चूमे तो,
किञ्चित् विचलित मत होना ॥
होने दो प्रतिबिम्ब बिचुम्बित,
लहरों ही में लहराना।
'लो मेरे तारों के गजरे,'
निर्भर-स्वर में यह गाना ॥
यदि प्रभात तक कोई आकर,
तुम से हाय, न मोल करे।
तो फूलों पर ओस-रूप में,
बिखरा देना सब गजरे ॥

मौन

मौन भी तो मधुर क्षण है।
मृदु सुरभि-सी बात पर वह फूल का नव आवरण है,
मौन भी तो मधुर क्षण है।

सान्ध्य बादल जब बदलता जा रहा प्रत्येक पल में।
छा रही है भ्रान्ति-सी जब तप्त सारे गगन-तल में।
क्या न आशाप्रद गगन में तारिका का ज्योति-कण है ?
मौन भी तो मधुर क्षण है।

विषम झोंकों से प्रताड़ित क्षुद्र रज-कण-हीन तन का,
मार्ग-दर्शन कर सकेगा वह किसी बलहीन जन का।
यदि किसी प्रणवीर का उसपर हुआ चिह्नित चरण है।
मौन भी तो मधुर क्षण है।

जबकि जीवन में विकलता या विवशता आ गई है,
और जब प्रतिशोध की नवक्रान्ति उसपर छा गयी है।
क्या न जीवन की अमरता में विजय का वह मरण है ?
मौन भी तो मधुर क्षण है।

('आकाशगंगा' से)

भगवतीचरण वर्मा

भगवतीचरण वर्मा का जन्म संवत् १६६० में उन्नाव जिले के सफीपुर गांव में हुआ। अपनी मस्ती और स्वच्छन्द वृत्ति को लेकर भगवती बाबू हिन्दी साहित्य क्षेत्र में उतरे और उन्होंने गद्य तथा पद्य में अपना विशेष स्थान बना लिया। उनके उपन्यास, चित्रलेखा, टेढ़े-मेढ़े रास्ते, तीन वर्ष, आखरी दांव, भूले-बिसरे चित्र, सामर्थ्य और सीमा हिन्दी साहित्य में अपना विशेष स्थान बनाये हुए हैं। उनकी काव्य-कृतियाँ—'मधुकरण' 'प्रेम-संगीत', 'एक दिन', और 'मानव' प्रसिद्ध हैं। नाटक और एकांकी नाटक भी उन्होंने लिखे हैं। आप एक सफल कहानीकार भी हैं। उन्होंने स्फुट निबन्ध भी लिखे हैं।

'प्रेम-संगीत' में भगवती बाबू की मधुर और प्रीति-विह्वल रचनाएँ संकलित हैं जो अपनी कोमलता के कारण मन में संगीतमयी गूँज छोड़ जाती है। उनकी रचना पर अस्पष्टता का दोष नहीं लादा जा सकता। उनकी कल्पनाएँ सुकुमार और चित्र सजीव होते हैं।

तुम लुटाती आ रही हो···

तुम लुटाती आ रही हो कौन-सा उन्माद रंगिनि ?
आज मानस के विकम्पित मौन में उन्मत्त मंथन ;
आज ढीले पड़ रहे हैं ज्ञान के विकराल बन्धन ;
आज सपनों की अवधियाँ आँसुओं के तार में बिंध
प्रेम की जयमाल बनकर रच रहीं सुकुमार सिहरन !
तुम जागती आ रही हो किस मिलन की याद रंगिनि ?
तुम लुटाती आ रही हो कौन-सा उन्माद रंगिनि ?
तुम बिछाती चल रही हो कौन-सा छवि-जाल रंगिनि ?

चपल गति से लिपट सौरभ कर रहा है विसुध नर्तन ;
नूपुरों के स्वरों में संगीत करता चरण-चुम्बन ;
अरुण पद तल के प्रभा की रश्मियों के तार शत-शत
बुन रहे हैं भावना से युक्त शाश्वत मुग्ध यौवन !
कल्पना के सूत्र में हैं बँध रहे दिशिकाल रंगिनि !
तुम बिछाती चल रही हो कौन-सा छवि-जाल रंगिनि ?
रच रहीं पद-चाप में तुम किस प्रणय के गीत रंगिनि ?

एक पद में सिहर उठती सुप्त युग-युग की कहानी ;
एक पद में बिहँस उठती सृष्टि की धुँधली निशानी ;
एक पद में प्रकृति कोमल एक में तुम केलिमय रति,
आज सहसा जग पड़ा है पुरुष पावन, मदन मानी !
आज आगत मिट गया है, आज लुप्त अतीत रंगिनि ?
रच रहीं पद-चाप में तुम किस प्रणय के गीत रंगिनि ?

अलस नयनों में लिए हो किस विजय का भार रंगिनि ?
झुक पड़ी मधु से विकल पुलकित कली ने आँख खोली ;
झुक पड़ी भूली हुई-सी आज पागल मधुप-टोली ;
झुक पड़ी कोमल झुकी-सी आम्र-डाली पर कुहुककर ;
और सौरभ-भार से झुककर मलय-वातास डोली।
आज बन्धन बन रहा है प्यार का उपहार रंगिनि ?
अलस नयनों में लिए हो किस विजय का भार रंगिनि ?

(२)

कुछ सुन लें, कुछ अपनी कह लें !
जीवन सरिता की लहर-लहर
मिटने को बनती यहाँ प्रिये !
संयोग क्षणिक ! फिर क्या जाने
हम कहाँ और तुम कहाँ प्रिये ?

पल-भर तो साथ-साथ बह लें ;
कुछ सुन लें, कुछ अपनी कह लें।

आओ कुछ ले लें औ दे लें!
हम हैं अजान पथ के राही,
चलना जीवन का सार प्रिये!
पर दुःसह है, अति दुःसह है
एकाकीपन का भार प्रिये!
पल-भर हम-तुम मिल हँस खेलें;
आओ कुछ ले लें कुछ दे लें ;

हम तुम अपने में लय कर लें!
उल्लास और सुख की निधियाँ,
बस, इतना इनका मोल प्रिये!
करुणा की कुछ नन्हीं बूंदें,
कुछ मृदुल प्यार के बोल प्रिये!
सौरभ से अपना उर भर लें।
हम तुम अपने में लय कर लें!

हम तुम जी भर खुलकर मिल लें।
जग के उपवन की यह मधु श्री,
सुषमा का सरस वसन्त प्रिये!
दो साँसों में बस जाय और
ये साँसें बनें अनन्त प्रिये!
मुरझाना है आओ, खिल लें,
हम तुम जी भर खुलकर मिल लें।

(३)

हम दीवानों की क्या हस्ती?
हैं आज यहाँ कल वहाँ चले!

मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले ;

आये बनकर उल्लास अभी,
आँसू बनकर बह चले अभी ;
सब कहते ही रह गये ; अरे !
तुम कैसे आये कहाँ चले ?

किस ओर चले यह मत पूछो,
चलना है बस, इसलिए चले,
जग से उसका कुछ लिये चले,
जग को उसका कुछ दिये चले,

दो बात कहीं, दो बात सुनीं !
कुछ हँसे और फिर कुछ रोये,
छककर सुख-दुख के घूंटों को
हम एक भाव से पिये चले !

हम भिखमंगों की दुनिया में,
स्वच्छन्द लुटाकर प्यार चले,
हम एक निशानी-सी उर पर
ले असफलता का भार चले,

हम मान-रहित अपमान-रहित
जी भरकर खुलकर खेल चुके,
हम हँसते-हँसते आज वहाँ,
प्राणों की बाजी हार चले।

हम भला-बुरा सब भूल चुके ;
नतमस्तक हो मुख मोड़ चले,

अभिशाप उठाकर होंठों पर
वरदान दृगों से छोड़ चले,

अब अपना और पराया क्या ?
आबाद रहें रुकने वाले !
हम स्वयं बँधे थे और स्वयं
हम अपने बन्धन तोड़ चले !

('प्रेम-संगीत' से)

भैंसा-गाड़ी

(१)

'चरमर-चरमर-चूं-चरर-मरर' जा रही चली भैंसा-गाड़ी
गीत के पागलपन से प्रेरित चलती रहती संसृति महान्,
सागर पर चलते हैं जहाज़, अम्बर पर चलते वायुयान,
भूतल के कोने-कोने में रेलों-ट्रामों का जाल बिछा;
हैं दौड़ रही मोटरें, बसें लेकर मानव का बृहत् ज्ञान ।

पर इस प्रदेश में, जहाँ नहीं उच्छ्वास, भावनाएँ, चाहें,
वे भूखे, अधखाए किसान भर रहे जहाँ सूनी आहें,
नंगे बच्चे, चिथड़े पहने माताएँ जर्जर डोल रहीं,
है जहाँ विवशता नृत्य कर रही, धूल उड़ाती हैं राहें,

बीते युग की परछाईं-सी बीते युग का इतिहास लिये,
'कल' के उन तन्द्रिल सपनों में, 'अब' का निर्दय उपहास लिये,
गति में किन सदियों की जड़ता ? मन में किस स्थिरता की ममता ?
अपनी जर्जर-सी छाती में अपना जर्जर विश्वास लिये ।

मर-मरकर फिर मिटने का स्वर, कँप-कँप उठते जिनके स्तर-स्तर,
हिलती-डुलती हँसती-कँपती, कुछ रुक-रुककर, कुछ सिहर-सिहर,

'चरमर-चरमर-चूं-चरर-मरर' जा रही चली भैंसा-गाड़ी

(२)

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे कुछ पाँच कोस की दूरी पर,
भू की छाती पर फोड़ों-से हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर।
मैं कहता हूँ खँडहर उसको, पर वे कहते हैं उसे-ग्राम ;
जिसमें भर देती निज धुँधलापन असफलता को सुबह-शाम ;

पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ, नारियाँ जन रही हैं गुलाम ;
पैदा होना, फिर मर जाना, यह है लोगों का एक काम।
था वहीं कटा दो दिन पहले गेहूँ का छोटा एक खेत,
तुम सुख-सुषमा के लाल, तुम्हारा है विशाल वैभव-विवेक।

तुमने देखी हैं मान-भरी उच्छृङ्खल सुन्दरियाँ अनेक ॥
तुम भरे-पुरे, तुम हृष्ट-पुष्ट, ऐ तुम समर्थ कर्ता-हर्ता।
तुमने देखा है क्या ? बोलो, हिलता-डुलता-कंकाल एक ?
वह था उसका ही खेत जिसे उसने उन पिछले चार माह—

अपने शोणित को सुखा-सुखा, भर-भरकर अपनी विसुध आह,
तैयार किया था; औ' घर में थी रही रुग्ण पत्नी कराह।
उसके वे बच्चे तीन जिन्हें माँ-बाप का मिला प्यार न था,
जो थे जीवन के व्यंग्य किन्तु मरने का भी अधिकार न था।

थे क्षुधा-ग्रस्त बिलबिला रहे मानो वे मोरी के कीड़े,
वे निपट घिनौने महापतित बौने, कुरूप टेढ़े-मेढ़े।
उसका कुटुम्ब था भरा-पूरा आहों से, हाहाकारों से ;
फाकों से लड़-लड़कर प्रतिदिन, घुट-घुटकर अत्याचारों से।

तैयार किया था उसने ही अपना छोटा-सा एक खेत,
बीबी-बच्चों से छीन, बीन दाना-दाना, अपने में मर,

भूखे तड़पें या मरें, भरों का तो भरना है उसको घर ;
धन की दानवता से पीड़ित, कुछ फटा हुआ, कुछ कर्कश स्वर
'चरमर-चरमरचूं-चरर-मरर' जा रही चली भैंसा-गाड़ी।

(३)

है बीस कोस पर एक नगर उस एक नगर में एक हाट,
जिसमें मानव की दानवता फैलाए है निज राजपाट।
साहूकारों के परदे में हैं जहाँ चोर औ गिरहकाट,
है अभिशापों से घिरा जहाँ पशुता का व्यापक ठाट-बाट !

उसमें चाँदी के टुकड़ों के बदले में लुटता है अनाज,
उन चाँदी के ही टुकड़ों से तो चलता है सब राज-काज।
वह राज-काज जो सधा हुआ है इन भूखे कंकालों पर,
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी है तिल-तिल मिटने वालों पर,

वे व्यापारी, वे ज़मींदार जो हैं लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट निरामिष सूदखोर पीते मनुष्य का उष्ण रक्त।
इस राज-काज के वही स्तम्भ, उनकी पृथ्वी उनका ही धन ;
ये ऐश और आराम उन्हीं के और उन्हीं के स्वर्ग सदन !

उस बड़े नगर का राग-रंग हँस रहा निरन्तर पागल-सा
चाँदी के टुकड़ों में विलास, चाँदी के टुकड़ों में है बल ;
उस पागलपन से ही पीड़ित कर रहे ग्राम अविकल क्रंदन !
इन चाँदी के ही टुकड़ों में सब धर्म-कर्म, सब चहल-पहल।

इन चाँदी के ही टुकड़ों में है मानव का अस्तित्व विफल।
चाँदी के टुकड़ों को लेने प्रतिदिन पिसकर, भूखों मरकर,
भैंसा गाड़ी पर लदा हुआ जा रहा चला मानव जर्जर !
है उसे चुकाना सूद-कर्ज़, है उसे चुकाना अपना कर,

जितना खाली है उसका घर उतना खाली उसका अंतर।
नीचे जलने वाली पृथ्वी ऊपर जलने वाला अम्बर।
औ, कठिन भूख की जलन लिये नर बैठा है बनकर पत्थर !
पीछे है पशता का खँडहर, दानवता का सामने नगर !
मानव का कृश कंकाल लिये—
'चरमर-चरमर, चूं-चरर-मरर' जा रही चली भैंसा-गाड़ी।

सियारामशरण गुप्त

श्री सियारामशरण गुप्त का जन्म संवत् १९५२ में हुआ था। आप हिन्दी के प्रतिनिधि कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई थे। हिन्दी के अतिरिक्त आप अंग्रेजी, बंगला, गुजराती और मराठी भी जानते थे। हिंदी में आपने कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि साहित्य के प्रायः सभी अंगों को पुष्ट किया; किन्तु आपकी ख्याति कवि के रूप में ही हुई। 'मौर्यविजय', 'दूर्वादल', 'आत्मोत्सर्ग', 'अनाथ', 'विषाद', 'आर्द्रा', 'पाथेय', 'मृण्मयी' आदि आपकी प्रमुख काव्य-रचनाएँ हैं। इनकी अभिव्यक्ति सुस्पष्ट तथा शब्द-योजना संयत और सरल रहती है। इनकी रचनाओं में गहन अनुभूति के दर्शन होते हैं। जैसे वे स्वभाव से अत्यन्त सरल थे, वैसे ही सीधे-सादे, सरल विषयों पर कविता भी करते थे। आपकी कविता का विषय जितना सरल होता है, भाव उतने ही ग्राह्य रहते हैं। आपका संवत् २०१९ में देहावसान हो गया।

एक फूल की चाह

(१)

उद्वेलित कर अश्रु-रश्मियाँ, हृदय-चिताएँ धधकाकर,
महा महामारी प्रचण्ड हो फैल रही थी इधर-उधर।
क्षीणकण्ठ मृतवत्साओं का करुण-रुदन दुर्दान्त नितान्त,
भरे हुए था जिन कृश रव में हाहाकार अपार अशान्त।

बहुत रोकता था सुखिया को, 'न जा खेलने को बाहर',
नहीं खेलना रुकता उसका नहीं ठहरती वह पलभर।
मेरा हृदय काँप उठता था, बाहर गई निहार उसे ;
यही मानता था कि बचा लूँ किसी भाँति इस बार उसे।

भीतर जो डर रहा छिपाये हाय ! वही बाहर आया,
एक दिवस सुखिया के तनु को ताप-तप्त मैंने पाया।
ज्वर में विह्वल हो बोली वह क्या जानूं किस डर से डर—
मुझको देवी के प्रसाद का एक फल ही दो लाकर !

(२)

बेटी, बतला तो तू मुझको किसने तुझे बताया यह ;
किसके द्वारा कैसे तूने भाव अचानक पाया यह ?
मैं अछूत हूँ मुझे कौन हा ! मन्दिर में जाने देगा;
देवी का प्रसाद ही मुझको कौन यहाँ लाने देगा ?

बार बार, फिर फिर तेरा हठ ! पूरा इसे करूँ कैसे;
किससे कहूँ, कौन बतलाये, धीरज हाय ! धरूँ कैसे ?
कोमल कुसुम-समान देह हा ! हुई तप्त अंगारमयी ;
प्रतिपल बढ़ती ही जाती है, विपुल वेदना, व्यथा नयी।

मैंने कई फूल ला-लाकर रक्खे उसकी खटिया पर ;
सोचा—शांत करूँ मैं उसको, किसी तरह तो बहलाकर।
तोड़-मोड़ वे फूल फेंक सब बोल उठी वह चिल्लाकर—
मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही दो लाकर !

(३)

क्रमश: कण्ठ क्षीण हो आया, शिथिल हुए अवयव सारे,
बैठा था नव-नव उपाय की चिन्ता में मैं मन मारे।
जान सका न प्रभात सजग से हुई अलस कब दोपहरी,
स्वर्ण-घनों में कब रवि डूबा, कब आई सन्ध्या गहरी।

सभी ओर दिखलाई दी बस, अन्धकार की ही छाया,
छोटी-सी बच्ची को ग्रसने कितना बड़ा तिमिर आया !
ऊपर विस्तृत महाकाश में जलते-से अँगारों से,
झुलसी-सी जाती थी आँखें जगमग जगते तारों से।

देख रहा था—जो सुस्थिर हो नहीं बैठती थी क्षणभर।
हाय! वही चुपचाप पड़ी थी अटल शांति-सी धारण कर।
सुनना वही चाहता था मैं उसे स्वयं ही उकसाकर—
मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही दो लाकर।

(४)

हे मातः, हे शिवे, अम्बिके, तप्त ताप यह शांत करो ;
निरपराध छोटी बच्ची यह, हाय! न मुझसे इसे हरो!
काली कान्ति पड़ गई इसकी, हँसी न जाने गई कहाँ,
अटक रहे हैं प्राण क्षीणतर साँसों में ही हाय यहाँ!

अरी निष्ठुरे, बढ़ी हुई ही है यदि तेरी तृषा नितान्त,
तो कर ले तू उसे इसी क्षण मेरे इस जीवन से शान्त!
मैं अछूत हूँ तो क्या मेरी विनती भी है हाय! अछूत,
उससे भी क्या लग जायेगी तेरे श्री-मन्दिर को छूत?

किसे ज्ञात, मेरी विनती वह पहुँची अथवा नहीं वहाँ,
उस अपार सागर का दीखा पार न मुझको कहीं वहाँ।
अरी रात, क्या अक्षयता का पट्टा लेकर आई तू,
आकर अखिल विश्व के ऊपर प्रलय-घटा-सी छाई तू,

पग भर भी न बढ़ी आगे तू डटकर बैठ गई ऐसी,
क्या न अरुण आभा जागेगी, सहसा आज विकृति कैसी!
युग के युग-से बीत गये हैं, तू ज्यों की त्यों है लेटी,
पड़ी एक करवट कब से तू, बोल, बोल कुछ तो बेटी!

वह चुप थी, पर गूंज रही थी उसकी गिरा गगन भर पर—
"मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल तुम दो लाकर!"

(५)

"कुछ हो देवी के प्रसाद का एक फूल, तो लाऊँगा ;
हो तो प्रातः काल, शीघ्र ही मन्दिर को मैं जाऊँगा।
तुझपर देवी की छाया है, और इष्ट है यही तुझे ;
देखूं देवी के मन्दिर में रोक सकेगा कौन मुझे।"

मेरे इस निश्चय निश्चल ने झट से हृदय किया हलका ;
ऊपर देखा—अरुण राग से रंजित भाल नभस्थल का।
झड़-सी गई तारकावलि थी म्लान और निष्प्रभ होकर ;
निकल पड़े थे खग नीड़ों से मानो सुध-बुध-सी खोकर।

रस्सी-डोल हाथ में लेकर निकट कुएँ पर जा जल खींच,
मैंने स्नान किया शीतल हो, सलिल-सुधा से तनु को सींच।
उज्ज्वल वस्त्र पहन घर आकर अशुचि ग्लानि सब धो डाली,
चन्दन, पुष्प-कपूर, धूप से सज ली पूजा की थाली,

सुखिया के सिरहाने जाकर मैं धीरे से खड़ा हुआ।
आँखें झंपी हुई थीं मुख भी मुरझा-सा था पड़ा हुआ।
मैंने चाहा—उसे चूम लूँ, किन्तु अशुचिता से डरकर;
अपने वस्त्र सँभाल, सिकुड़कर खड़ा रहा कुछ दूरी पर।

वह कुछ-कुछ मुस्काई सहसा, जाने किन स्वप्नों में लग्न,
उसकी वह मुसकाहट भी हा ! कर न सकी मुझको मुद-मग्न
अक्षम मुझे समझकर क्या तू हँसी कर रही है मेरी ?
बेटी, जाता हूँ मन्दिर में आज्ञा यही समझ तेरी।
उसने नहीं कहा कुछ, मैं ही बोल उठा तब धीरज धर—
तुझको देवी के प्रसाद का एक फूल तो दूं लाकर मैं।

(६)

ऊँचे शैल शिखर के ऊपर मन्दिर था विस्तीर्ण विशाल;
स्वर्ण-कलश सरसिज विहसित थे पाकर समुदित रवि-कर-जाल।
परिक्रमा-सी कर मन्दिर की, ऊपर से आकर झर-झर,
वहाँ एक झरना झरता था कल-कल मधुर गान कर कर।

पुष्प-हार-सा जँचता था वह मन्दिर के श्रीचरणों में,
त्रुटि न दीखती थी भीतर भी पूजा के उपकरणों में,
दीप-धूप से आमोदित था मन्दिर का आँगन सारा;
गूँज रही थी भीतर-बाहर मुखरित उत्सव की धारा।

भक्त-वृन्द मृदु-मधुर कण्ठ से गाते थे सभक्ति मुद-मय,—
'पतित-तारिणी पाप-हारिणी, माता, तेरी जय-जय-जय!'
'पतित-तारिणी, तेरी जय जय'—मेरे मुख से भी निकला
बिना बढ़े ही मैं आगे को जाने किस बल से ढिकला!

माता, तू इतनी सुन्दर है, नहीं जानता था मैं यह;
माँ के पास रोक बच्चों की, कैसी विधि यह तू ही कह?
आज स्वयं अपने निदेश से तूने मुझे बुलाया है;
तभी आज पापी अछूत यह श्री-चरणों तक आया है।

मेरे दीप-फूल लेकर वे अम्बा को अर्पित करके;
किया पुजारी ने प्रसाद जब आगे अंजलि भर-भरके।
भूल गया उसका लेना झट, परम लाभ-सा पाकर मैं;
सोचा—बेटी को माँ के ये पुण्य-पुष्प दूँ जाकर मैं।

(७)

सिंह पौर तक भी आँगन से नहीं पहुँचने मैं पाया,
सहसा यह सुन पड़ा कि—"कैसे यह अछूत भीतर आया?

पकड़ो, देखो, भाग न जाये, बना धूर्त यह है कैसा ;
साफ, स्वच्छ परिधान किये है, भले मानुषों के जैसा !

पापी ने मन्दिर में घुसकर किया अनर्थ बड़ा भारी ;
कलुषित कर दी है मंदिर की चिरकालिक शुचिता सारी।"
एं, क्या मेरा कलुष बड़ा है देवी की गरिमा से भी ;
किसी बात में मैं हूँ आगे माता की महिमा से भी ?

माँ के भक्त हुए तुम कैसे, करके यह विचार खोटा ?
माँ के सम्मुख ही माँ का तुम गौरव करते हो छोटा ?
कुछ न सुना भक्तों ने, झट से मुझे घेरकर पकड़ लिया ;
मार मार कर मुक्के-घूंसे धम-से नीचे गिरा दिया !

मेरे हाथों से प्रसाद भी बिखर गया हा ! सब का सब,
हाय ! अभागी बेटी तुझ तक कैसे पहुँच सके यह अब !
मैंने उनसे कहा—"दण्ड दो मुझे मार कर ठुकरा कर,
बस यह एक फूल कोई भी दो बच्ची, को ले जाकर।"

(८)

न्यायालय ले गये मुझे वे, सात दिवस का दण्ड-विधान
मुझको हुआ; हुआ था मुझसे देवी का महान् अपमान !
मैंने स्वीकृत किया दण्ड वह शीश झुकाकर चुप ही रह ;
उस असीम अभियोग, दोष का क्या उत्तर देता क्या, कह ?

सात रोज ही रहा जेल में या कि वहाँ सदियाँ बीतीं,
अविश्रान्त बरसा करके भी आखें तनिक नहीं रीतीं।
कैदी कहते—"अरे मूर्ख, क्यों ममता थी मंदिर पर ही ?
पास वहीं मसजिद भी तो थी दूर न था गिरजाघर भी।"

कैसे उनको समझाता मैं, वहाँ गया था क्या सुख से ;
देवी का प्रसाद चाहा था बेटी ने अपने मुख से।

दण्ड भोग कर जब मैं छूटा, पैर न उठते थे घर को ;
पीछे ठेल रहा था कोई भय जर्जर तनु पंजर को।

पहले की-सी लेने मुझको नहीं दौड़कर आई वह ?
उलझी हुई खेल में ही हा ! अब की दी न दिखाई वह।
उसे देखने मरघट को ही गया दौड़ता हुआ वहाँ –
मेरे परिचित बन्धु प्रथम ही फूँक चुके थे उसे जहाँ।

बुझी पड़ी थी चिता वहाँ पर छाती धधक उठी मेरी,
हाय ! फूल-सी कोमल बच्ची हुई राख की थी ढेरी !
अन्तिम बार गोद में बेटी, तुझको ले न सका मैं हा !
एक फूल माँ का प्रसाद भी तुझको दे न सका मैं हा !

वह प्रसाद देकर ही तुझको जेल न जा सकता था क्या ?
तनिक ठहर ही सब जन्मों के दण्ड न पा सकता था क्या ?
बेटी की छोटी इच्छा वह कहीं पूर्ण मैं कर देता,
तो क्या अरे दैव त्रिभुवन का सभी विभव मैं हर लेता ?

यहीं चिता पर धर दूँगा मैं—कोई अरे सुनो, वर दो—
मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही लाकर दो !

रामधारीसिंह दिनकर

श्री दिनकरजी का जन्म संवत् १९६५ में हुआ। आपकी कविता में देशव्यापी जागरण का स्वर है। ये आलोकवादी कवि हैं जो अपनी प्रखर प्रतिभा से अन्धकार में भी प्रकाश की किरणें बिखेरकर समाज और मानव-जीवन का कल्याण करते हैं। आपकी कविता जनसाधारण के हृदय में शिव भावना की सृष्टि करती है। आप राष्ट्रीय कवि हैं। विषय की सरसता और भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से दिनकरजी ने अपने काव्य को जनता के हृदय में स्थायी स्थान पाने योग्य बना दिया है। अपनी कुछ कविताओं में यह कवि विद्रोही भी नजर आता है। वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति और आर्थिक व्यवस्था को देखकर कवि हुंकार कर उठता है; परिवर्तन का आह्वान करता है। आपने प्रबन्ध काव्य भी लिखे हैं।

संस्कृति एवं इतिहास के गम्भीर अध्ययन के फलस्वरूप आपने 'संस्कृति के चार अध्याय' ग्रंथ की रचना की है। आपने साहित्यिक निबंध भी लिखे हैं। आप बिहार के सर्वोपरि कवि हैं।

आपकी प्रमुख रचनाएँ ये हैं: काव्य—रेणुका, हुंकार, रसवंती, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, नील कुसुम, उर्वशी आदि; निबंध—मिट्टी की ओर अर्द्धनारीश्वर, संस्कृति के चार अध्याय आदि।

हिमालय के प्रति

मेरे नगपति! मेरे विशाल!

साकार, दिव्य गौरव विराट्!
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल
मेरी जननी के हिम-किरीट?
मेरे भारत के दिव्य भाल!

मेरे नगपति! मेरे विशाल!

युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त,
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान,
निस्सीम व्योम में तान रहे,
युग से किस महिमा का वितान ?

कैसी अखंड यह चिर-समाधि?
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान ?
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान ?

उलझन का कैसा विषम जाल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

ओ, मौन तपस्या-लीन यती !
पल-भर को तो कर दृगोन्मेष !
रे ज्वालाओं से दग्ध, विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश !

सुखसिन्धु, पंचनद, ब्रह्मपुत्र,
गंगा, यमुना की अमिय-धार
जिस पुण्यभूमि की ओर बही
तेरी विगलित करुणा उदार !

जिसके द्वारों पर खड़े क्रान्त
सीमापति ! तूने की पुकार।
'पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार'।

उस पुण्यभूमि पर आज तपी
रे ! आन पड़ा संकट कराल;

व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे,
डस रहे चतुर्दिक् विविध व्याल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

कितनी मणियाँ लुट गईं ? मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष !
तू ध्यान-मग्न ही रहा इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश !

ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैलराट् ! हुँकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद !

तू मौन त्याग, कर सिंहनाद
रे तपी ! आज तप का न काल,
नव युग-शंखध्वनि जगा रही
तू जाग, जाग मेरे विशाल !

मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
नव युग-शंखध्वनि जगा रही !
जागो नगपति ! जागो विशाल !

परिचय

सलिल-कण हूँ कि पारावार हूँ मैं;
स्वयं छाया, स्वयं आधार हूँ मैं;
बँधा हूँ, स्वप्न हूँ, छोटा बना हूँ;
नहीं तो व्योम का विस्तार हूँ मैं।

समाना चाहती जो बीन उर में;
विकल उस शून्य की झंकार हूँ मैं।
भटकता खोजता हूँ ज्योति तम में,
सुना है ज्योति का आगार हूँ मैं !

जिसे निशि खोजती तारे जलाकर
उसीका कर रहा अभिसार हूँ मैं।
जनम कर मर चुका सौ बार लेकिन
अगम का पा सका क्या पार हूँ मैं !

कली की पंखड़ी पर ओस-कण में,
रँगीले स्वप्न का संसार हूँ मैं।
मुझे क्या आज ही या कल झरूँ मैं,
सुमन हूँ, एक लघु उपहार हूँ मैं।

जलन हूँ, दर्द हूँ, दिल की कसक हूँ;
किसीका हाय ! खोया प्यार हूँ मैं।
गिरा हूँ भूमि पर नन्दन-विपिन से,
अमर-तरु का सुमन सुकुमार हूँ मैं।

मधुरजीवन हुआ कुछ प्राण ! जब से,
लगा ढोने व्यथा का भार हूँ मैं।
रुदन अनमोल धन कवि का, इसीसे
पिरोता आँसुओं का हार हूँ मैं।

मुझे क्या गर्व हो अपनी विभा का?
चिता का धूलिकण हूँ, क्षार हूँ मैं।
पता मेरा तुझे मिट्टी कहेगी,
समा जिसमें चुका सौ बार हूँ मैं।

न देखे विश्व, पर मुझको घृणा से;
मनुज हूँ, सृष्टि का शृंगार हूँ मैं।
पुजारिन ! धूलि से मुझको उठा ले,
तुम्हारे देवता का हार हूँ मैं।

सुनूँ क्या सिंधु मैं गर्जन तुम्हारा ?
स्वयं युग-धर्म की हुंकार हूँ मैं।
कठिन निर्घोष हूँ भीषण अशनि का;
प्रलय-गांडीव की टंकार हूँ मैं।

दबी-सी आग हूँ भीषण क्षुधा की;
दलित का मौन हाहाकार हूँ मैं।
सजग संसार, तू निज को सम्हाले;
प्रलय का क्षुब्ध पारावार हूँ मैं।

बँधा तूफ़ान हूँ, चलना मना है,
बँधी उद्दाम निर्झर-धार हूँ मैं;
कहूँ क्या कौन हूँ, क्या आग मेरी ?
बँधी है लेखनी, लाचार हूँ मैं।

हरिवंशराय बच्चन

हिन्दी साहित्य में हालावादी विचारधारा को अमर बनाने का श्रेय वास्तव में कविवर बच्चन को ही है। आपने अपनी सरस और सरल कविता के द्वारा जन-मन को मुग्ध कर एक युगप्रवर्तक कवि होने का परिचय दिया है। खैयाम की रचना का अनुवाद करने में बच्चनजी को अद्वितीय सफलता मिली है, क्योंकि वे मूल में एकरूप होकर उसकी अनुभूति को निजानुभूति के रूप में, ठीक अंग्रेजी कवि फिट्जगेरल्ड की तरह, प्रस्तुत कर पाए हैं। बच्चनजी की स्वतन्त्र रचनाएँ उनकी हालावादी विचार-धारा को लेकर हमारे सामने आती हैं, जिनमें उनकी अपनी आत्मा सन्निविष्ट है। वे रचनाएँ जहाँ एक ओर अपने में सजीवता लिए हुए हैं, वहाँ दूसरी ओर वे अपने अन्दर प्रभावोत्पादकता का गुण भी धारण किए हैं। यही कारण है कि आज एक युग बीत जाने के बाद भी वे पुरानी नहीं जान पड़तीं। आपकी कविता में प्रसाद गुण प्रधान है।

बच्चनजी का जन्म संवत् १९६४ में प्रयाग में हुआ। आपकी प्रमुख रचनाएँ ये हैं—मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश, निशानिमंत्रण, एकान्त-संगीत, आकुल अन्तर, सतरंगिनी, बंगाल का काल, हलाहल, खादी के फूल, सूत की माला, बहुत दिन बीते, दो चट्टानें, कटती प्रतिमाओं की आवाज़ आदि। दो चट्टानें, पर उन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

मधुशाला

भावुकता - अंगूर - लता से
खींच कल्पना की हाला,
कवि बनकर है साक़ी आया
भरकर कविता का प्याला।

कभी न कण-भर ख़ाली होगा,
लाख पिएँ, दो लाख पिएँ !
पाठक - गण हैं पीनेवाले,
पुस्तक मेरी मधुशाला ।।

मधुर भावनाओं की सुमधुर
नित्य बनाता हूँ हाला,
भरता हूँ इस मद से अपने
ही उर का प्यासा प्याला ।

उठा कल्पना के हाथों से
स्वयं इसे पी जाता हूँ,
अपने ही में हूँ मैं साक़ी,
पीनेवाला, मधुशाला ।।

धर्म-ग्रंथ सब जला चुकी है
जिसके अन्तर की ज्वाला,
मन्दिर, मस्जिद, गिरजे सबको
तोड़ चुका जो मतवाला ;

पण्डित, मोमिन, पादरियों के
फंदों को जो काट चुका,
कर सकती है आज उसीका
स्वागत मेरी मधुशाला ।।

सूर्य बने मधु का विक्रेता,
सिंधु बने घट, जल हाला,
बादल बन बन आए साक़ी,
भूमि बने मधु का प्याला ।

झड़ी लगाकर बरसे मदिरा
रिमझिम रिमझिम रिमझिमकर,
बेलि, विटप, तृण, बन मैं पीऊँ,
वर्षा - ऋतु हो मधुशाला ।।

मुसलमान औ' हिन्दू हैं दो,
एक मगर उनका प्याला,
एक मगर उनका मदिरालय,
एक मगर उनकी हाला।

दोनों रहते एक न जब तक
मन्दिर - मस्जिद में जाते,
लड़वाते हैं मन्दिर - मस्जिद,
मेल कराती मधुशाला ।।

कलियों से

"अहे ! मैंने कलियों के साथ—
जब मेरा चंचल बचपन था,
महा निर्दयी मेरा मन था—
अत्याचार अनेक किये थे,
कलियों को दुख दीर्घ दिये थे ;
तोड़ इन्हें बागों से लाता,
छेद-छेदकर हार बनाता ।
क्रूर कार्य यह कैसे करता,
सोच इसे हूँ आहें भरता !
कलियो ! तुमसे क्षमा माँगते ये अपराधी हाथ ।"

"अहे ! वह मेरे प्रति उपकार।
कुछ दिन में कुम्हला ही जाती,
गिरकर भूमि-समाधि बनाती।
कौन जानता मेरा खिलना,
कौन नाज़ से हिलना-डुलना ?
कौन गोद में मुझको लेता ?
कौन प्रेम का परिचय देता ?
मुझे तोड़, की बड़ी भलाई,
काम किसीके तो कुछ आई !
बनी रही दो-चार घड़ी तो किसी गले का हार।"

"अहे ! वह क्षणिक प्रेम का जोश !
सरस-सुगन्धित थी तू जब तक
बनी स्नेह-भाजन थी तब तक ;
जहाँ तनिक-सी तू मुरझायी
फेंक दी गयी, दूर हटायी।
इसी प्रेम से क्या तेरा हो जाता है परितोष ?"

"बदलता पल-पल पर संसार,
हृदय विश्व के साथ बदलता,
प्रेम कहाँ फिर लहे अटलता ?
इससे केवल यही सोचकर
लेती हूँ संतोष हृदय-भर—
मुझको भी था किया किसीने कभी हृदय से प्यार।"

अँधेरे का दीपक

है अँधेरी रात पर
दीवा जलाना कब मना है ?

(१)

कल्पना के हाथ से कम-
नीय जो मन्दिर बना था,
भावना के हाथ ने जिसमें
वितानों को तना था,

स्वप्न ने अपने करों से
था जिसे रुचि से सँवारा,

स्वर्ग के दुष्प्राप्य रंगों
से, रसों से जो सना था,

ढह गया वह तो जुटाकर
ईंट, पत्थर, कंकड़ों को
एक अपनी शांति की
कुटिया बनाना कब मना है ?

है अँधेरी रात पर
दीवा जलाना कब मना है ?

(२)

बादलों के अश्रु से धोया
गया नभ-नील नीलम
का बनाया था गया मधु-
पात्र मनमोहक मनोरम

प्रथम ऊषा की किरण की
लालिमा-सी लाल मदिरा
थी उसी में चमचमाती
नव घनों में चंचला सम
वह अगर टूटा मिलाकर
हाथ की दोनों हथेली,
एक निर्मल स्रोत से
तृष्णा बुझाना कब मना है ?
है अँधेरी रात पर
दीवा जलाना कब मना है ?

(३)

क्या घड़ी थी एक भी
चिंता नहीं थी पास आई,
कालिमा तो दूर, छाया
भी पलक पर थी न छाई,
आँख से मस्ती झपकती
बात से मस्ती टपकती,
थी हँसी ऐसी जिसे सुन
बादलों ने शर्म खाई,
वह गई तो ले गई
उल्लास के आधार, माना,
पर अथिरता पर समय की
मुसकराना कब मना है ?
है अँधेरी रात पर
दीवा जलाना कब मना है ?

(४)

हाय, वे उन्माद के झोंके
कि जिनमें राग जागा
वैभवों से फेर आँखें
गान का वरदान माँगा,

एक अन्तर से ध्वनित हों
दूसरे में जो निरन्तर
भर दिया अम्बर-अवनि को
मत्तता के गीत गा-गा,

अन्त उनका हो गया तो
मन बहलने के लिए ही
ले अधूरी पंक्ति कोई
गुनगुनाना कब मना है ?

है अँधेरी रात पर
दीवा जलाना कब मना है ?

(५)

हाय, वे साथी कि चुंबक-
लौह-से जो पास आए,
पास क्या आए, हृदय के
बीच ही गोया समाए,

दिन कटे ऐसे कि कोई
तार वीणा के मिलाकर
एक मीठा और प्यारा,
जिन्दगी का गीत गाए,

वे गए तो सोचकर यह
लौटनेवाले नहीं वे,

खोज मन का मीत कोई
लौ लगाना कब मना है?

है अँधेरी रात पर
दीवा जलाना कब मना है?

(६)

क्या हवाएँ थीं कि उजड़ा
प्यार का वह आशियाना,

कुछ न आया काम तेरा
शोर करना, गुल मचाना,

नाश की उन शक्तियों के
साथ चलता ज़ोर किसका,

किन्तु ऐ निर्माण के
प्रतिनिधि, तुझे होगा बताना,

जो बसे हैं वे उजड़ते
हैं प्रकृति के जड़ नियम से,
पर किसी उजड़े हुए को
फिर बसाना कब मना है?

है अँधेरी रात पर
दीवा जलाना कब मना है?

निर्माण

नीड़ का निर्माण फिर-फिर
नेह का आह्वान फिर-फिर

(१)

वह उठी आँधी कि नभ में
छा गया सहसा अँधेरा,
धूलि - धूसर बादलों ने
भूमि को इस भाँति घेरा,
रात-सा दिन हो गया, फिर
रात आई और काली,
लग रहा था अब न होगा
इस निशा का फिर सवेरा,
रात के उत्पात, भय से
भीत जन-जन, भीत कण-कण,
किन्तु प्राची से उषा की
मोहिनी मुस्कान फिर-फिर
नीड़ का निर्माण फिर-फिर
नेह का आह्वान फिर-फिर !

(२)

वह चले झोंके कि काँपे
भीम कायावान भूधर,
जड़ समेत उखड़-पुखड़कर
गिर पड़े टूटे, विटपवर,
हाय, तिनकों से विनिर्मित
घोंसलों पर क्या न बीती,
डगमगाए जबकि कंकड़,
ईंट पत्थर के महल-घर
बोल आशा के विहंगम,
किस जगह पर तू छिपा था,

जो गगन पर चढ़ उठाता
गर्व से निज तान फिर-फिर !
नीड़ का निर्माण फिर-फिर
नेह का आह्वान फिर-फिर

(३)

क्रुद्ध नभ के वज्र दंतों
में उषा है मुस्कराती
घोर गर्जनमय गगन के
कंठ में खग पंक्ति गाती;
एक चिड़िया चोंच में तिनका
लिए जो जा रही है,
वह सहज में ही पवन
उंचास को नीचा दिखाती।
नाश के दुख से कभी
दबता नहीं निर्माण का सुख,
प्रलय की निस्तब्धता से
सृष्टि का नव गान फिर-फिर
नीड़ का निर्माण फिर-फिर
नेह का आह्वान फिर-फिर

जो बीत गई

(१)

जो बीत गई सो बात गई
जीवन में एक सितारा था,
माना, वह बेहद प्यारा था,
वह डूब गया तो डूब गया,
अम्बर के आनन को देखो,

कितने इसके तारे टूटे,
कितने इसके प्यारे छूटे,
जो छूट गये फिर कहाँ मिले;
पर बोलो, टूटे तारों पर
कब अम्बर शोक मनाता है !
जो बीत गई सो वात गई !

(२)

जीवन में वह था एक कुसुम,
थे उसपर नित्य निछावर तुम,
यह सूख गया तो सूख गया,
मधुवन की छाती को देखो,
सूखीं इसकी कितनी कलियाँ
मुरझाईं कितनी वल्लरियाँ,
जो मुरझाईं फिर कहाँ खिलीं,
पर बोलो सूखे फूलों पर
कब मधुवन शोर मचाता है !
जो बीत गई सो बात गई !

(३)

जीवन में मधु का प्याला था,
तुमने तन-मन दे डाला था,
वह टूट गया तो टूट गया;
मदिरालय का आँगन देखो,
कितने प्याले हिल जाते हैं,
गिर मिट्टी में मिल जाते हैं,
जो गिरते हैं कब उठते हैं;
पर बोलो टूटे प्यालों पर

कब मदिरालय पछताता है !
जो बीत गई सो बात गई !

(४)

मृदु मिट्टी के हैं बने हुए,
मधु-घट फूटा ही करते हैं,
लघु जीवन लेकर आये हैं,
प्याले टूटा ही करते हैं,
फिर भी मदिरालय के अन्दर
मधु के घट हैं, मधु प्याले हैं,
जो मादकता के मारे हैं,
वे मधु लूटा ही करते हैं,
वह कच्चा पीनेवाला है
जिसकी ममता घटप्यालों पर,
जो सच्चे मधु से जला हुआ
कब रोता है, चिल्लाता है !
जो बीत गई सो बात गई !

पुकार लो

इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो !

(१)

ज़मीन है न बोलती,
न आसमान बोलता,
जहान देखकर मुझे
नहीं ज़बान खोलता,
नहीं जगह कहीं जहाँ
न अजनबी गिना गया,

कहाँ-कहाँ न फिर चुका
दिमाग-दिल टटोलता,
कहाँ मनुष्य है कि जो
उमीद छोड़कर जिया,
इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो,
इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो।

(२)

तिमिर समुद्र कर सकी
न पार नेत्र की तरी,
विनष्ट स्वप्न से लदी,
विषाद याद से भरी,
न कूल भूमि का मिला,
न कोर भोर की मिली
न कट सकी; न घट सकी
विरह-घिरी विभावरी,
कहाँ मनुष्य है जिसे
कमी खली न प्यार की,
इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे दुलार लो!
इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो!

(३)

उजाड़ मे लगा चुका
उमीद मैं बहार की,
निदाघ से उमीद की
बसंत के बयार की;
मरुस्थली मरिचिका
सुधामयी मुझे लगी,

अँगार से लगा चुका
उमीद मैं तुषार की;
कहाँ मनुष्य है जिसे
न भूलशूल-सी गड़ी ?
इसीलिए खड़ा रहा
कि भूल तुम सुधार लो !
इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो,
पुकारकर दुलार लो, दुलारकर सुधार लो !

स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय'

श्री अज्ञेयजी का पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है। जन्म संवत् १९६८ (७ मार्च, १९११) में हुआ, बचपन लखनऊ, काश्मीर, बिहार और मद्रास में बीता। शिक्षा मद्रास और लाहौर में पाई। साहित्य के अध्ययन के साथ रसायनशास्त्र का भी आपने अध्ययन किया। कई बार क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों के सिलसिले में ब्रिटिश राज्य में जेल-यात्राएँ कीं। दो वर्ष नजरबंद भी रहे। अब तक आपके जीवन का बहुत बड़ा भाग यात्राओं में बीता है।

पिछले कुछ वर्षों से अज्ञेयजी अपना सारा समय साहित्यक्षेत्र को दे रहे हैं। कविता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि कई साहित्य-विधाओं में आपने एक-सी सफलता प्राप्त की है। मानव-मन के कलात्मक विश्लेषण का जो सुन्दर और सफल रूप आपकी रचनाओं में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अज्ञेयजी कई पत्रिकाओं के सम्पादक रह चुके हैं। आजकल आप 'दिनमान' साप्ताहिक के सम्पादक हैं। आप प्रयोगवादी कविता के प्रणेता माने जाते हैं।

अज्ञेयजी की प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं : काव्य—भग्नदूत, चिंता, इत्यलम्, हरी घास पर क्षण भर आदि; उपन्यास—शेखर एक जीवनी (दो भाग), नदी के द्वीप, अपने-अपने अजनबी; कहानी—विपथगा, परंपरा, कोठरी की बात, जयदोल आदि।

चल उड़ हारिल

उड़ चल हारिल, लिए हाथ में
यही अकेला ओछा तिनका—
ऊषा जाग उठी प्राची में
कैसी बाट, भरोसा किनका!

शक्ति रहे तेरे हाथों में--
छुट न जाय यह चाह सृजन की
शक्ति रहे तेरे हाथों में
रुक न जाय यह गति जीवन की ?

ऊपर ऊपर ऊपर ऊपर
बढ़ा चीरता चल दिक्-मंडल
अनथक पंखों की चोटों से
नभ में एक मचा दे हलचल !

तिनका ? तेरे हाथों में है
अमर एक रचना का साधन—
तिनका ? तेरे पंजों में है !
विधना के प्राणों का स्पन्दन !

काँप न यद्यपि दसों दिशा में
तुझे शून्य नभ घेर रहा है
रुक न, यदपि उपहास जगत का
तुझको पथ से हेर रहा है ;

तू मिट्टी था, किन्तु आज
मिट्टी को तूने बाँध लिया है

नदी के द्वीप

(१)

हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हमको छोड़ स्रोतस्विनी बह जाय।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत, कूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं
माँ है, वह। है, इसीसे हम बने हैं।

(२)

किन्तु हम हैं द्वीप ।
हम धारा नहीं हैं ।
स्थिर समर्पण है हमारा ।
हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के ।
किन्तु हम बहते नहीं हैं । क्योंकि बहना रेत होना है ।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं ।
पैर उखड़ेंगे । प्लावन होगा । ढहेंगे । सहेंगे । बह जायेंगे ।
और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते ?
रेत बनकर हम सलिल को तनिक गँदला भी करेंगे ।
अनुपयोगी ही बनाएँगे ।

(३)

द्वीप हैं हम ।
यह नहीं है शाप । यह अपनी नियति है ।
हम नदी के पुत्र हैं । बैठे नदी के क्रोड़ में ।
वह बृहद् भूखण्ड से हमको मिलाती है ।
और वह भूखण्ड
अपना पितर है ।

(४)

नदी, तुम बहती चलो ।
भूखण्ड से जो दाय हमको मिला है, मिलता रहा है,
माँजती, संस्कार देती चलो :
यदि ऐसा कभी हो
तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से—
अतिचार से —
तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे—
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा घोर

काल प्रवाहिनी बन जाय।
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार।
मातः, उसे फिर संस्कार तुम देना।

जो कहा नहीं गया

है, अभी कुछ और है जो कहा नहीं गया।
उठी एक किरण, धायी, क्षितिज को नाप गयी,
सुख की स्मिति कसक-भरी, निर्धन की नैन-कोरों में कांप गयी,
बच्चे ने किलक भरी, माँ की वह नस-नस में व्याप गयी।
अधूरी हो, पर सहज थी अनुभूति :
मेरी लाज मुझे साज बन ढांप गयी—
फिर भी मुझे बेसबेरे से
रहा नहीं गया।
पर कुछ और रहा जो
कहा नहीं गया।
निर्विकार मरु तक को सींचा है
तो क्या ? नदी-नाले, ताल-कुएँ से पानी उलीचा है
तो क्या ? उड़ा हूँ, दौड़ा हूँ, तैरा हूँ, पारंगत हूँ,
इसी संसार के मारे
अन्धकार में सागर के किनारे
ठिठक गया : नत हूँ
उस विशाल में मुझसे
बहा नहीं गया।
इसीलिए जो और रहा, वह
कहा नहीं गया।

शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं
पर इसलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ हैं।
शायद केवल इतना ही : जो दर्द है
वह बड़ा है, मुझी से
सहा नहीं गया।
तभी तो, जो अभी और रहा, वह
कहा नहीं गया।

हमारा देश

इन्हीं तृण-फूस छप्पर से
ढके ढुलमुल गँवारू
झोंपड़ों में ही हमारा देश
बसता है।
इन्हीं के ढोल-मादल-बाँसुरी के
उमगते सुर में
हमारी साधना का रस
बरसता है।
इन्हीं के मर्म को अनजान
शहरों की ढंकी लोलुप विषैली
वासना का साँप
डँसता है।
इन्हीं में लहरती अल्हड़
अयानी संस्कृति की दुर्दशा पर
सभ्यता का भूत
हँसता है।

उदयशंकर भट्ट

श्री उदयशंकर भट्ट प्रसिद्ध कवि एवं सफल नाटककार थे। आपका जन्म संवत् १९५५ (सन् १८९७) में हुआ। आधुनिक युग के साहित्य-सर्जकों में आपका उच्च स्थान है। पंजाब प्रान्त में साहित्यिक जागृति पैदा करने में आपका बहुत हाथ रहा है। आप जन्मतः गुजराती थे।

भट्टजी की कविता में भारतीय संस्कृति का गौरवपूर्ण चित्र प्रकट होता है। कुछ कविताएँ माधुर्य भाव को लेकर लिखी गई हैं। वर्तमान राजनैतिक एवं संघर्षात्मक जीवन का प्रभाव भट्टजी की रचनाओं पर पड़ा है। 'युगदीप' कविता वर्तमान युग की समस्याओं पर आलोक बिखेरती है। भट्टजी की काव्यशैली गीतिकाव्य के नितान्त उपयुक्त है। यह भावपूर्ण है—आडम्बर-रहित। कुछ रचनाओं में आपने आतुकांत तथा मुक्तछन्द का भी प्रयोग किया है। भट्टजी को गीतिनाट्यों की रचना में भी अपूर्व सफलता मिली है।

भट्टजी की प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं: काव्य—विसर्जन, अमृत और विष, युगदीप, यथार्थ और कल्पना आदि; नाटक—विश्वामित्र, दो भावनाट्य, कालिदास, एकला चलो रे, सागर-विजय, मुक्तिपथ, अन्धकार और प्रकाश; उपन्यास—नये मोड़, वह जो मैंने देखा (दो भाग), सागर, लहरें और मनुष्य आदि। कुछ दिन पूर्व उनका निधन हो गया।

रात की गोद में

सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप !
सागर लहरों को सुला गोद, मुख चूम उमंगें रहा माप !

(१)

सब मूक नगर, पथ, गली, द्वार,
नर मूक सो रहे—पग पसार,

आँखों में भरकर साध पुण्य,
आँखों में भरकर अघ जघन्य,
उर में जीवन की आशाएँ,
आशाओं की मृदु भाषाएँ,
कुछ शाप और
अपलाप लिये,
वरदान और
अपमान लिये,
अरमान कहीं, अवसान कहीं,
कोने में स्मृतियाँ कहीं मूक,
चंचल आकृतियाँ कहीं मूक,
कुत्ते भी चुप, कौए भी चुप,
तस्कर रखते पग दबा चाप—
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप !

(२)

मानिनी कहीं है रही जाग,
झूठे आँसू, झूठाऽनुराग,
पर उमड़ रहा है प्रेम हृदय,
आँसू से करती हैं अभिनय,
दीपक से चितवन वक्र मिला,
प्रिय का विह्वल मन रहीं हिला,
बेचैन विनय
बेचैन हृदय
बेचैन प्रान,
बेचैन मान,
दम्पति के हैं तूफान मूक
दम्पति के हैं अरमान मूक

दीपक जल-जल
धोता उर-मल
दोनों अपनापन भूल गये
दोनों अपना मन भूल गये
दीपक की लौ से मूक मधुर—
दोनों की धड़कन रही काँप !
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप !

(३)

दिल-जले समेटे हुए राख,
मनचले बटोरे हुए खाक,
कुछ पत्थर-से दिल निर्विकार,
कुछ पानी-से पिघले अपार,
केवल सपनों में प्यार मिला,
जीवन में जिसको भार मिला;
वे विरह और
वे मिलन लिये,
वे चाह और
वे डाह लिये,
उन्माद कहीं, अवसाद कहीं,
जीवन में जो कुछ कर न सके,
अपने घावों को भर न सके,
दिन से पाकर वे घृणा, व्यंग्य,
निशि में करते चुपचुप विलाप।
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप !

(४)

शैशव की कहीं कहानी चुप
उठती-सी कहीं जवानी चुप,

थी आँखों की नादानी चुप,
अल्हड़ मस्ती का पानी चुप,
उठता-उठता-सा रह जाता
चुपके-चुपके सब बह जाता
उद्गार और
अभिसार और
अपनी ऐंठन का
प्यार और
अवशेष मधुर, उठ चले सिहर,
सब अपना नवपथ भूल गये,
आँखों में लेकर शूल नये,
वे भी करवट ले नचा रहे,
आँखों में अपने नये ताप।
सुनसान रात, गुचचुप तारे, एकान्त चन्द्र नभ मूक आप !

(५)

कुछ स्वामी की झिड़कन लेकर,
बेचैनी, ऊबा मन, लेकर
तन भूख, भर्त्सना-धन लेकर
जर्जर तन-मन
जर्जर जीवन,
विगलित आहें
छूँछी चाहें,
प्राणों में हाहाकार भरे
आँखों का जल उपहार भरे,
सो रहे सहेजे हुए हृदय,
दुनिया के अपने सभी पाप--
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप !

(६)

कुछ सोते दुख की लिये साँस
कुछ सोते कल की लिये आस
क्या जाने कल भी जिन्हें सत्य,
लेने दे जीवन का न पथ्य ?
रे, अलग-अलग
मानव का जग
सब चुप ही चुप
अँधेरा घुप,
केवल मेरा कवि रहा जाग
ले हृदय-आग, वाणी-विहाग,
उस महानींद का ताल प्रखर,
हर रात गूंजता रह-रह कर,
पीता है निशि के खप्पर में,
जग की सांसों के नाप-नाप !
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप !

(७)

गिरते अचूक हैं बम्ब कहीं,
नर छिन्न-भिन्न अवलंब कहीं,
आँखों में कटती दुखद रात,
भय-विगलित जीवन-पारिजात,
इस ओर मृत्यु
उस ओर मृत्यु
झकझोर रही
सब ओर मृत्यु
कुछ चौंक रहे कह वज्र गिरा,
मर रहे अँधेरे से टकरा,

निज साँस तोड़, सब ग्रास छोड़,
नैराश्य निशा से नाश जोड़,
सो रहे समुज्ज्वल जीवन पर,
यम-छाया का कंकाल ढाँप !
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक ग्राप !

धीरे-धीरे युग-दीप जला

अगणित शैशव के हास पिये, यौवन अतृप्त के श्वास पिये,
मलयज दोलित मधु-मास पिये,
पीकर भी हिम-सा स्वयं गला, धीरे-धीरे युग-दीप जला।

किंकिणी रात की पहन हँसा, ऊषा पर मुग्ध न किन्तु रसा,
फूलों के हासों पर न बसा,
दौड़ा न कहीं, रुकता न चला, धीरे-धीरे युग-दीप जला।

संध्या-प्रभात, दिन-रात, पिये, अगणित बसंत-बरसात पिये,
अगणित गरमी हिम-पात पिये,
तूफान मिले न हुआ धुँधला, धीरे-धीरे युग-दीप जला।

मानव की स्वार्थ-परायणता, मानव की गर्व-परायणता,
मानव की बुद्धि-परायणता—
का पीकर खून हुआ उजला--धीरे-धीरे युग-दीप जला।

मानव की चर्बी से भरकर, बत्ती लाशों की बना सुघर,
संघर्ष अनन्त निगल खरतर,
भू का आलोकित दीप बला—धीरे-धीरे युग-दीप जला।

शैशव यौवन जलक्षार हुए, अगणित पंथी उस पार हुए
तेरी गति में न विकार हुए,
अपने को खाकर आप चला—धीरे-धीरे युग-दीप जला।

शिवमंगलसिंह सुमन

श्री सुमनजी का जन्म संवत् १९७३ (१९१६) में हुआ। आपके काव्य में जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण बड़े ही स्वाभाविक रूप में मिलता है। उसमें शृंगार की रसमयी धारा मिलती है और समाज की पतित दशा तथा मानवता का करुण क्रंदन भी। उनकी नवीन रचनाओं में युग की पुकार और नव निर्माण का संदेश पूर्ण रूप से ध्वनित हो रहा है। सुमनजी का भावुक हृदय कभी जीवन की रंगरलियों की ओर झाँकता है, तो कभी उनकी बौद्धिक रुझान उन्हें सर्वहारा वर्ग की दयनीय दशा की ओर खींच ले जाती है। इन परिस्थितियों के कारण उनकी रचनाओं में वैविध्य विशेष मात्रा में प्राप्त होता है

सुमनजी गीतकार हैं; उनके गीतों में प्रास का सौंदर्य और शब्दों का सामर्थ्य प्रकट होता है। शैली का प्रवाह और भाषा की सरलता अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं। सुमनजी की कविता में गेयता होती है। जब ये स्वयं अपनी कविताएँ सुनाते हैं तो जनसमुदाय मन्त्रमुग्ध हो जाता है। रस-विभोर होकर घण्टों सुनता रहता है। हिन्दी के नवीन कवियों में सुमनजी का महत्वपूर्ण स्थान है।

आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं; हिल्लोल, जीवन के गान, प्रलय-सृजन, विश्वास बढ़ता ही गया, पर आँखें नहीं भरीं आदि।

वरदान माँगूँगा नहीं

यह हार एक विराम है
जीवन महा संग्राम है
तिल-तिल मिटूँगा पर दया की भीख मैं लूँगा नहीं।
वरदान माँगूँगा नहीं।

स्मृति सुखद प्रहरों के लिए
अपने खंडहरों के लिए

यह जान लो मैं विश्व की सम्पत्ति चाहूँगा नहीं।
वरदान माँगूँगा नहीं !

क्या हार में क्या जीत में
किंचित् नहीं भयभीत मैं
संघर्ष पथ पर जो मिले यह भी सही वह भी सही।
वरदान माँगूँगा नहीं !

लघुता न अब मेरी छुओ
तुम हो महान बने रहो
अपने हृदय की वेदना मैं व्यर्थ त्यागूँगा नहीं।
वरदान माँगूँगा नहीं !

चाहे हृदय को ताप दो
चाहे मुझे अभिशाप दो
कुछ भी करो कर्तव्य-पथ से किन्तु भागूँगा नहीं !
वरदान माँगूँगा नहीं !

मिट्टी की महिमा

(१)

निर्मम कुम्हार की थापी से
कितने रूपों में कुटी-पिटी;
हर बार बिखेरी गई किन्तु
मिट्टी फिर भी तो नहीं मिटी !

आशा में निश्चल पल जाए, छलना में पड़कर छल जाए;
सूरज दमके तो तप जाए, रजनी ठुमके तो ढल जाए !
यों तो बच्चों की गुड़िया-सी भोली मिट्टी की हस्ती क्या ?
आँधी आए तो उड़ जाए, पानी बरसे तो गल जाए।

फसलें उगतीं, फसलें कटतीं, लेकिन धरती चिर उर्वर है
सौ बार बने, सौ बार मिटे लेकिन मिट्टी अविनश्वर है!
मिट्टी गल जाती पर उसका विश्वास अमर हो जाता है!

(२)

विरचे शिव, विष्णु, विरंचि विपुल
अगणित ब्रह्माण्ड हिलाए हैं;
पलने में प्रलय झुलाया है,
गोदी में कल्प खिलाए हैं!
रो दे तो पतझड़ आ जाए, हँस दे तो मधु ऋतु छा जाए;
झूमे तो नन्दन झूम उठे, थिरके तो ताण्डव शरमाए!
यों मदिरालय के प्याले-सी मोहक मिट्टी की मस्ती क्या!
अधरों को छूकर सकुचाए, ठोकर लग जाए छहराए!
उनचास मेघ, उनचास पवन, अम्बर-अवनी कर देते सम;
वर्षा थमती, आंधी थमती, मिट्टी हँसती रहती हरदम?
कोयल उड़ जाती पर उसका निःश्वास अमर हो जाता है!

(३)

मिट्टी की महिमा मिटने में,
मिट-मिट हर बार सँवरती है;
मिट्टी मिट्टी पर मिटती है,
मिट्टी मिट्टी को रचती है!
मिट्टी में स्वर है, संयम है, होनी-अनहोनी कह जाए,
हँस कर हालाहल पी जाए, छाती पर सब कुछ सह जाए।
यों तो ताशों के महलों-सी मिट्टी की वैभव-बस्ती क्या?
बूड़ा आ जाए बह जाए, भूकम्प उठे तो ढह जाए!
लेकिन मानव का फूल खिला जब से वाणी का वर पाकर,
विधि का विधान लुट गया, स्वर्ग-अपवर्ग हो गए न्योछावर!
कवि मिट जाता, लेकिन उसका उच्छ्वास अमर हो जाता है।

सोहनलाल द्विवेदी

श्री सोहनलाल द्विवेदी हिन्दी के राष्ट्रीय कवि हैं। राष्ट्रीयता से सम्बन्धित कविताएँ लिखनेवालों में आपका स्थान मूर्धन्य है। महात्मा गांधी पर आपने कई भावपूर्ण रचनाएँ लिखी हैं जो हिंदी जगत् में अत्यन्त लोकप्रिय हुई हैं। इसके अतिरिक्त भारत देश, ध्वज, राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्र-नेताओं के विषय की आपकी अनेक उत्तम कोटि की कविताएँ हैं। आपकी अभिव्यक्ति में नितांत स्वाभाविकता और सचाई है। आपकी रचनाएँ ओजपूर्ण रहती हैं। भाषा बिलकुल सरल और आम बोलचाल की होती है। शैली प्रसादगुणपूर्ण, प्रवाहमय और सजीव है। आपने कई प्रयाणगीत लिखे हैं जो अनुप्रासयुक्त होने के कारण सामूहिक रूप से गाए जाते हैं। द्विवेदीजी की कविता हमारी राष्ट्रीयता की परिचायक है।

द्विवेदीजी की प्रमुख रचनाएँ हैं—भैरवी, पूजागीत, सेवाग्राम, प्रभाती, युगाधार, कुणाल आदि।

युगावतार गांधी

चल पड़े जिधर दो डग मग में
चल पड़े कोटि पग उसी ओर,
गड़ गई जिधर भी एक दृष्टि
गड़ गए कोटि दृग् उसी ओर;

जिसके सिर पर निज धरा हाथ
उसके चिर-रक्षक कोटि हाथ,
जिस पर निज मस्तक झुका दिया
झुक गये उसी पर कोटि माथ;

हे कोटिचरण ! हे कोटिबाहु !
हे कोटिरूप ! हे कोटिनाम !
तुम एक मूर्ति, प्रतिमूर्ति कोटि
हे कोटिमूर्ति ! तुमको प्रणाम !

युग बढ़ा तुम्हारी हंसी देख
युग हटा तुम्हारी भृकुटि देख,
तू अचल मेखला बन भू की
खींच ले काल पर अमिट रेख;

तुम बोल उठे, युग बोल उठा
तुम मौन बने, युग मौन बना;
कुछ कर्म तुम्हारे संचित कर
युगकर्म जगा, युगधर्म तना;

युग - परिवर्तक, युग - संस्थापक
युग - संचालक, हे युगाधार !
युग - निर्माता, युग - मूर्ति ! तुम्हें
युग - युग तक युग का नमस्कार !

तुम युग - युग की रूढ़ियाँ तोड़
रचते रहते नित नई सृष्टि,
उठती नव जीवन की नीवें,
ले नवकेतन की दिव्य दृष्टि ;

तुम कालचक्र के रक्त सने
दशनों को कर से पकड़ सुदृढ़,
मानव को दानव के मुँह से
ला रहे खींच बाहर बढ़ बढ़,

सोहनलाल द्विवेदी

पिसती कराहती जगती के
प्राणों में भरते अभय दान,
अधमरे देखते हैं तुमको,
किसने आकर यह किया त्राण ?

दृढ़ चरण, सुदृढ़ कर सम्पुट से
तुम कालचक्र की चाल रोक,
नित महाकाल की छाती पर
लिखते करुणा के पुण्य श्लोक !

कँपता असत्य, कँपती मिथ्या,
बर्बरता कँपती है थर थर !
कँपते सिंहासन, राजमुकुट,
कँपते, खिसके आते भू पर;

हैं अस्त्र-शस्त्र कुण्ठित, लुण्ठित,
सेनाएँ करतीं गृह - प्रयाण !
रणभेरी तेरी बजती है,
उड़ता है तेरा ध्वज - निशान !

हे युग-द्रष्टा, हे युग-स्रष्टा,
पढ़ते कैसा यह मोक्ष-मन्त्र ?
इस राजतन्त्र के खँडहर में
जगता अभिनव भारत स्वतन्त्र !

गोपालसिंह नेपाली*

आपका जन्म संवत् १९६० में बेतिया, जिला चम्पारन में हुआ। आपमें कविता की प्रतिभा जन्मजात ही थी। आपकी प्रारम्भिक रचनाओं पर छायावाद का प्रभाव दृष्टिगत होता है, किन्तु धीरे-धीरे उनके काव्य का एक स्वतन्त्र पथ निर्मित हो गया। आपने अपनी सुन्दर रचनाओं द्वारा हिन्दी चित्रपट जगत् में काव्य-प्रतिभा को जीवित रखा। आप पत्रकार भी रहे। 'उमंग', 'रागिनी', 'पंछी' आपके कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी कुछ अप्रकाशित रचनाएँ भी हैं। आपका संवत् २०१९ में निधन हो गया।

नेपालीजी की कविता की प्रधान विशेषता है मूक-प्रशान्त-आनन्दमयी सत्ता का संगीतमय चित्रण और प्रकृतिप्रेम। आपकी भाषा में प्रसादगुण प्रधानता पाई जाती है।

सुन्दर का ध्यान कहीं सुन्दर

सौ-सौ अँधियारी रातों से, तेरी मुस्कान कहीं सुन्दर
मुख से मुख-छवि पर लज्जा का, झीना परिधान कहीं सुन्दर
तेरी मुस्कान कहीं सुन्दर

दुनिया देखी पर कुछ न मिला, तुझको देखा सब कुछ पाया
संसार-ज्ञान की महिमा से, प्रिय की पहचान कहीं सुन्दर
तेरी मुस्कान कहीं सुन्दर

जब गर्जे मेघ, पपीहा, पिक, बोलें-डोलें गुलजारों में
लेकिन कांटों की झाड़ी में, बुलबुल का गान कहीं सुन्दर
तेरी मुस्कान कहीं सुन्दर

संसार अपार महासागर, मानव लघु-लघु जलयान बने
सागर की ऊँची लहरों से, चंचल जलयान कहीं सुन्दर
तेरी मुस्कान कहीं सुन्दर

तू सुन्दर है पर तू न कभी, देता प्रति-उत्तर ममता का
तेरी निष्ठुर सुन्दरता से, मेरे अरमान कहीं सुन्दर
तेरी मुस्कान कहीं सुन्दर

देवालय का देवता मौन, पर मन का देव मधुर बोले
इन मन्दिर-मस्जिद-गिर्जा से, मन का भगवान् कहीं सुन्दर
तेरी मुस्कान कहीं सुन्दर

शीतल जल में मंजुलता है, प्यासे की प्यास अनूठी है
रेतों में बहते पानी से, हरिणी हैरान कहीं सुन्दर
तेरी मुस्कान कहीं सुन्दर

सुन्दर हैं फूल, विहग, तितली, सुन्दर हैं मेघ, प्रकृति सुन्दर
पर जो आँखों में बसा उसी सुन्दर का ध्यान कहीं सुन्दर
तेरी मुस्कान कहीं सुन्दर

भाई-बहन

तू चिनगारी बनकर उड़ री, जाग-जाग मैं ज्वाल बनूँ,
तू बन जा हहराती गंगा, मैं झेलम बेहाल बनूँ;
आज बसन्ती चोला तेरा, मैं भी सज लूँ, लाल बनूँ;
तू भगिनी बन क्रान्ति कराली, मैं भाई विकराल बनूँ;
यहाँ न कोई राधारानी, वृन्दावन, वंशीवाला।
तू आंगन की ज्योति बहन री, मैं घर का पहरेवाला।
बहन, प्रेम का पुतला हूँ मैं, तू ममता की गोद बनी;
मेरा जीवन क्रीड़ा-कौतुक, तू प्रत्यक्ष प्रमोद बनी;

मैं भाई फूलों में भूला, मेरी बहन विनोद बनी;
भाई की गति, मति भगिनी की दोनों मंगल-मोद बनी।
यह अपराध कलंक सुशीले, सारे फूल जला देना;
जननी की जंजीर बज रही, चल तबियत बहला देना।
भाई एक लहर बन आया, बहन नदी की धारा है;
संगम है, गंगा उमड़ी है, डूबा कूल किनारा है;
यह उन्माद, बहन को अपना भाई एक सहारा है;
यह अलमस्ती, एक बहन ही भाई का ध्रुवतारा है;
पागल घड़ी, बहन-भाई है, वह आज़ाद तराना है।
मुसीबतों से बलिदानों से पत्थर को समझाना है।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

अंचलजी का जन्म संवत् १९७२ (सन् १९१५) में हुआ। आपकी गणना छायावाद के युग के बाद प्रकाश में आनेवाले प्रमुख कवियों में होती है। हिन्दी के नये कवियों में उन्होंने अपना अच्छा स्थान बना लिया है। उनके पाँच-छः कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

आपकी कविता में प्रेमानुभूति का सूक्ष्म अंकन हुआ है और उसमें पिपासाकुल प्राणों की सारी कसक और सारी वेदना अभिव्यक्त हो आई है। उनकी कविता में स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण के साथ-साथ राष्ट्रीय ओज का भी सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है।

अंचलजी की प्रमुख रचनाएँ हैं—मधूलिका, अपराजिता, किरणबेला, करील, लाल चूनर और वर्षान्त के बादल। आपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण को लेकर कुछ निबन्ध भी लिखे हैं। 'समाज और साहित्य' निबन्ध-संग्रह उनका इस दिशा में सुन्दर प्रयास है।

मैं तुम्हारे साथ गाती

भाव गीतों का समझती हूँ न, पर मैं साथ गाती
मैं तुम्हारे साथ गाती
ज्योति के पायल पहन नक्षत्र-सी मैं जगमगाती
मैं तुम्हारे साथ गाती

अर्थ समझूँ मैं न—कड़ियों की विकलता जानती हूँ
मैं स्वरों के साथ उठती आग को पहचानती हूँ।
पूर्णता की प्यास ले ज्यों सरि चले सागर-मिलन को
है तुम्हारे राग में तृष्णा वही—मैं मानती हूँ।
लाँघ सीमा रिक्तता की मैं चली पूर्णत्व पाने
मैं अपरिचित थी—पवन की लय मुझे आई बुलाने

श्रौर मेरे फुल्ल मन में भी पिकी का दाह जागा
छोड़ घूंघट श्रौर श्रकुलाहट उठी मैं स्वर मिलाने
मैं सजीली प्यार-भीनी छाँह-सी हूँ साथ जाती
मैं तुम्हारे साथ गाती

मुग्ध होंठों बीच सिमटी बंसरी-सी मैं नहाती
दौड़ती फिरती तुम्हारे साथ जीवन की गली में
हूँ घुली जाती लहर-सी मैं तुम्हारी काकली में
प्राण की यह सिक्त तन्मयता—न रस का श्रन्त जैसे
जग उठा हो मूर्ति का ज्यों देवता प्रस्तर-तली में
वायु चंचल प्राण का किस मुक्ति का मर्मर लिये है
श्राज मेरा कण्ठ किस मधु का महासागर पिये है
ज्योति यह श्रानन्द की मन की द्विधाएँ भस्म करती
गीत का लयभार मेरे कंकणों को रत किये है
हो शिथिल श्रवरोह में—श्रारोह में नभ चूम श्राती
मैं तुम्हारे साथ गाती

ज्योति-चंचल श्रारती-जैसी ध्वनित हो थरथराती
देर तक सुनती रही मैं वाग्विहीना स्वर तुम्हारा
था न गाने के लिए मुझसे तनिक श्राग्रह तुम्हारा
लग रहा था पर मुझे मैं एक क्षण भी रुक न सकती
प्रेरणा से गति-सुमंत्रित था विवश यह गात सारा
छोड़ मन्दिर में निकल आई, रही पूजा श्रधूरी
थी बड़ी उन्मत्त उत्कंठा, नहीं थी सह्य दूरी
मौन पूजन था वहाँ-मुखरित यहाँ था व्यग्र श्रणु-श्रणु
थी वहाँ नि:शब्द स्वीकृति श्रब निनादित प्रणति पूरी
मैं पुलक-पूरित खगी-सी सुख-पगी बलिहार जाती
मैं तुम्हारे साथ गाती

मैं तुम्हारे गीत की कोमल कड़ी बन झूम जाती
भूल जाता प्राण गोपन के युगों की लाज माती
भूल जाता दिन घड़ी-भर को अवज्ञाएँ तुम्हारी
था अधिक कब पास मेरे जो छिपा पाती तुम्हें मैं
थी स्वयं मैं क्षुद्र इतनी बन गई अनुकृति तुम्हारी
खुल पड़ी वह मूक थी जो खिल उठी जो वंचिता थी
लुट चली उद्गार बनकर जन्म से जो संचिता थी
थी पड़ी अवरुद्ध निष्ठा की अगति में जो समर्पित
हो गई परिपूर्ण प्लावित ग्रीष्म-सरि जो रंजिता थी
खुल गये मीलित नयन ज्यों स्नेहव्याकुल दीप-बाती
मैं तुम्हारे साथ गाती

मैं वसन्ती वायु से उठती लता-सी कसमसाती
रूप पाती रश्मि मुझसे, सृष्टि नव प्राणद विपुलता
है यही संगीत अम्बर के घनों में पूर्ति भरता
भीगकर उस तान से शारद निशा अवदात होती
है वसन्ती तारकों का राग यह पथ-ताप हरता
बाँध लेता है प्रकृति को संचरण पुलकावली का
गन्ध के परिप्रोत से बनता सुमन लघु तन कली का
इस अनामी गीत का मैं अर्थ समझी हूँ न अब तक
किन्तु रंग देता यही मुख प्रति पवन की अंजली का
मैं गुँथी जाती इसी की मुग्ध मीड़ों में समाती
बिम्ब से प्रतिबिम्ब-सी मिलने चली मैं राग-माती
मैं तुम्हारे साथ गाती

काँटे कम से कम मत बोओ

यदि फूल नहीं बो सकते तो
काँटे कम से कम मत बोओ !

(१)

है अगम चेतना की घाटी, कमज़ोर बड़ा मानव का मन;
ममता की शीतल छाया में होता कटुता का स्वयं शमन!

ज्वालाएँ जब धुल जाती हैं, खुल-खुल जाते हैं मुँदे नयन,
होकर निर्मलता में प्रशान्त बहता प्राणों का क्षुब्ध पवन।

सँकट में यदि मुस्का न सको, भय से कातर हो मत रोओ!
यदि फूल नहीं बो सकते तो, काँटे कम से कम मत बोओ!

(२)

हर सपने पर विश्वास करो, लो लगा चाँदनी का चन्दन,
मत याद करो, मत सोचो—ज्वाला में कैसे बीता जीवन,

इस दुनिया की है रीति यही—सहता है तन, बहता है मन,
सुख की अभिमानी मदिरा में जो जाग सका, वह है चेतन !

इसमें तुम जाग नहीं सकते, तो सेज बिछाकर मत सोओ!
यदि फूल नहीं बो सकते तो, काँटे कम से कम मत बोओ!

(३)

पग-पग पर शोर मचाने से मन में संकल्प नहीं जमता
अनुसुना अचीन्हा करने से संकट का वेग नहीं कमता,

संशय के सूक्ष्म कुहासे में विश्वास नहीं क्षण भर रमता,
बादल के घेरों में भी तो जय घोष न मारुत का थमता।

यदि बढ़ न सको विश्वासों पर साँसों से मुरदे मत ढोओ!
यदि फूल नहीं बो सकते तो, काँटे कम से कम मत बोओ!

आज कवि का मूक क्यों स्वर ?

कर रहा चीत्कार जब संसार सारा नष्ट होकर—
आज कवि का मूक क्यों स्वर ?

जल रही सुख-शांति—संयम से मनुज का व्याप्त जीवन,
आ गया जब नाश सम्मुख ले मरण के नग्न बन्धन,
आज कवि का मूक क्यों स्वर ?
ले सतत आधार जिसका था खड़ा अपदस्थ मानव,
ढह रहा वह युग विनिर्मित चेतना का स्तम्भ ज्यों शव,
आज कवि का मूक क्यों स्वर ?
रुक गया जब आज जगती की प्रगति का स्रोत सारा,
विश्व-चिन्तन के प्रवाहों की पड़ी अवरुद्ध धारा ;
आज कवि का मूक क्यों स्वर ?
यह निहत्थों औ' निरीहों का महा बलिदान कातर,
दीर्घ शोषण का चरम बीभत्स यह विद्रूप लखकर ;
आज कवि का मूक क्यों स्वर ?
सृष्टि के आदिम युगों की मुक्त बर्बरता लजाती,
त्राण संसृति का न दिखता मृत्यु की भरती न छाती ;
आज कवि का मूक क्यों स्वर ?

नरेन्द्र शर्मा

श्री नरेन्द्र शर्मा का जन्म संवत् १९७० में जहाँगीरपुर (बुलन्दशहर) में हुआ। आप नवीन युग के प्रभावशाली कवि हैं। आपके काव्य में अनुभूतियों की गहनता और कल्पना की मौलिकता का दर्शन होता है। आपकी भाषा सरस और प्रवाहपूर्ण है। आपने शृंगार की कविताएँ लिखी हैं और साथ ही राष्ट्रीयता से ओतप्रोत उत्तम रचनाएँ भी की हैं। दोनों में आपकी गति समान है। आपकी कुछ कविताएँ प्रगतिवाद के अन्तर्गत आती हैं। आप नवीन कवियों में अग्रगण्य हैं।

आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं—प्रवासी के गीत, मिट्टी और फूल, पलाशवन, कामिनी आदि।

कामना

अब तो ऊब गया मन मेरा पत्थर की दीवारों से,
आँखें ऊब गईं टकरा कर उन निर्जीव कतारों से ?

बड़े नगर हैं, क्षुद्र मनुजता चेरी बनी अचिरता की।
शहर नहीं हैं तसवीरें हैं मानव की अस्थिरता की !
टूट चुका नाता हाथों का भावों और विचारों से !

दास अर्थ का बनकर मानव व्यर्थ गँवाता है जीवन !
रिस-रिसकर रस गया रसातल, प्यासी आँखें सूना मन।
सब कुछ बेच दिया, क्या पाया शहरों के बाज़ारों से ?

दिया बहुत कुछ, पाया किंचित् जहाँ सभी पाने वाले ?
नाममात्र के गुणी रहे अब अपने गुण गाने वाले !
ज्ञान मिला विज्ञापन पर चलनेवाले अखबारों से !

कल को आज निगलनेवाला ऋण शहरों का राजा है।
मानव का कर्तव्य अजदहे-सी पूंजी का खाजा है !
शासित है, शोषित है मानव करतब के हत्यारों से !

पाँच तत्त्व के इस पुतले का प्रकृतिदत्त उपहार छिना
जीता है वह पवन, अग्नि, आकाश, धरा, जलधार बिना,
वंचित है वह अपने संचित जन्मसिद्ध अधिकारों से !

जो न हिलाते हाथ उन्हीं के हाथ लगी जीवन-पूँजी !
टक्कर खाते हैं मेहनतकश, शक्कर खाते हैं मूँजी !
जान गवाँकर क्या पाया ? -- पूछो शहरी लाचारों से !

सब कुछ गया, रहा यदि कुछ तो अहंकार अपनेपन का
रुद्ध क्रुद्ध हत आहत अहि-सा स्रोत विषैले जीवन का,
मुक्त न होगा मानव यों मानव• के अत्याचारों से !

वस्तु बनीं थी मानव के हित, वहाँ वस्तु के हित मानव,
वस्तु-यूप पर मानव की बलि देता पूँजी का दानव,
मन पसीजता नहीं दनुज का मानव की चीत्कारों से !

मन होता है नयन रमें फिर खुले हुए देहातों में।
चढ़े पर्वतों के शिखरों पर, उतरे मुक्त प्रपातों में,
दौड़े नदियों की द्रोणी में, पूछें राह कछारों से।

रहूँ जहाँ, कुछ हरे खेत हों ; बहता निर्मल पानी हो,
इधर-उधर कुछ खेत, बीच में घर हो, घर की रानी हो !
अठखेली कर सकूँ कभी चढ़ती चंचल मँझधारों से !

धरती का कण-भर सँवारकर, क्षण-भर सुखी बना पाऊँ!
मूल ब्याज के संग चुका कर हँसी खुशी सुख से जाऊँ !
इच्छा की ध्वनि कभी न निकले फिर मन की झंकारों से !

सुख-दुख

जब तक मन में दुर्बलता है
दुख से दुख, सुख से ममता है।

पर सदा न, रहता जग में सुख
रहता सदा न जीवन में दुख !
छाया-से माया-से दोनों
आने जाने हैं ये सुख-दुख !

मन भरता मन, पर क्या इनसे
आत्मा का अभाव भरता है !

बहुत नाज था अपने सुख पर
पर न टिका दो दिन सुख-वैभव,
दुख ? दुख को भी समझा सागर
एक बूँद भी नहीं रहा अब ;

देखा जब दिन-रात चीड़-वन
नित कराह आहें भरता है !

मैंने दुख-कातर हो-होकर
जब जब दर-दर कर फैलाया,
सुख के अभिलाषी मन मेरे
तब-तब सदा निरादर पाया ;

ठोकर खा-खाकर पाया है
दुख का कारण कायरता है !

सुख भी नश्वर, दुख भी नश्वर
यद्यपि सुख-दुख सबके साथी,
कौन घुले फिर सोच-फिकर में
आज घड़ी क्या है, कल क्या थी !

देख तोड़ सीमाएँ अपनी
जोगी नित निर्भय रमता है !

जब तक तन है, आधि-व्याधि हैं।
जब तक मन, सुख-दुख हैं घेरे ;
तू निर्बल तो क्रीत भृत्य है,
तू चाहे ये तेरे चेरे !
तू इनसे पानी भरवा, भर
ज्ञान-कूप, तुझमें क्षमता है।
सुख-दुख के पिंजर में बन्दी
कीर धुन रहा सिर बेचारा,
सुख-दुख के दो तीर चीर कर
बहती नित गंगा की धारा,
तेरे जी चाहे जो बन ले,
तू अपना करता-हरता है !

प्रभात फेरी*

आओ, हथकड़ियाँ तड़का दूँ, जागो रे नतशिर बन्दी !
उन निर्जीव शून्य श्वासों में
आज फूँक दूँ नवजीवन,
भर दूँ उनमें तूफानों का,
अगणित भूचालों का कंपन,
प्रलयवाहिनी हों, स्वतन्त्र हों, तेरी ये साँसें बन्दी !
दो हो, चाहे एक साँस हो
जीवित हो, उल्लासभरी हो,
जीवन-चिह्न बनें ये बन्धन,
साँस-साँस में स्वाभिमान हो;
क्या साँसों की गिनती जीवन ? सोचो तो भोले बन्दी !
बन्दी सकल कर्म-कारण कर,
शिर नत, आँखें सूनेपन में !

वृथा मुक्ति यों खोज रहे हो
सत्य भीत तुम शून्य गगन में;
अविनाशी की आशा मिथ्या, स्वयं समर्थ बनो, बन्दी;
अपने सर्वसमर्थ हृदय को
भूल, शून्य में कर फैलाते,
याचक बनकर आसमान के
शक्तिमान् को शीश नवाते,
अवनी अनल अनिल जल नभ के तुम ही अधिवासी, बन्दी!
जल ज्वाला भूकम्प तुम्हारे–
ही अतुलित बल के परिचायक,
आँधी औ' तूफान तुम्हारे
शक्तिमान् श्वासों के वाहक,
हे सत्तासूचक नभ-चुम्बी भूधर, ग्रह उपग्रह बन्दी!
कर प्रकाश बन्दी दीपक में
तम में तुमने किया उजाला,
जैसे वन को, वैसे मन को
फिर ईश्वर भी खोज निकाला
सृजनहार के सृजनहार तुम, तुम ही प्रतिपालक, बन्दी!
संसृति के गृह में दीपक-सा
वह उपयोगी है पर नश्वर,
उसका तो जलना-बुझना भी,
मानव की इच्छा पर निर्भर,
जीवन-क्रम में ईश्वर नश्वर, केवल तुम शाश्वत बन्दी!

जग है तुम हो, यहाँ नहीं वह,
हे ग्रास्तिक ! तुम सत्यहीन हो,
स्वत्वहीन हो दीन-हीन हो,
मन के भ्रम में स्वयं लीन हो,
अपने ही मन की माया में मत भूलो, भोले बन्दी !

जन्म-मरण-भयभीत बन्धु क्यों ?
हैं ये तो जीवन, नवजीवन !
स्वर्ग तुम्हारी, रुचिर कल्पना,
धर्म तुम्हारा ही प्रतिपादन !
तुम्हीं ध्येय हो जग जीवन के, उठो, बढ़ो, भूले बन्दी ?

उठो, उठो, ऐ सोते सागर
नई सृष्टि का ले नव कम्पन
क्षीरसिंधु भी, बन्धु तुम्हीं में,
जिसमें स्थित अग-जग का कारण
विश्वाधार विष्णु के पालक, तुम्हीं अशेष शेष बन्दी !

व्यक्तरूप में हो असीम तुम,
सृष्टिश्रेष्ठ ! तुममें असीम है,
निबल ! तुम्हारा बल तुममें है,
ज्यों तम में जग-ज्योति लीन है
उठो सूर्य-से चीर तिमिर को, उठो, उठो, नतशिर बन्दी !

जागो, पहचानो अपने को
मानव हो, समझो निज गौरव,
अन्तस्तल की आँखें खोलो
देखो निज अतुलित बल वैभव,
अहंकार औ' स्वाधिकार—दो पृथक्-पृथक् पथ हैं, बन्दी !

आरसीप्रसाद सिंह

आपका जन्म संवत् १९०७ में इरावत, दरभंगा में हुआ। प्रखर भावुकता, सजीव कल्पना तथा हृदय की वेदना आपकी कविताओं की विशेषता है। आपने कुछ वीर भावना-प्रधान रचनाएँ भी लिखी हैं। आप बिहार के कवियों में लोकप्रिय हैं। कहीं-कहीं आप यथार्थवादी रूप में प्रकट होते हैं और जीवन की तृष्णा, निराशा, क्षुधा और सामाजिक उत्पीड़न का कठोर चित्रण भी करते हैं। कहीं-कहीं आपका कल्पनारूप भी प्रधान हो उठा है। 'कलापी' आपका प्रथम कविता-संग्रह है। आपकी अब तक बारह, चौदह पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें आरसी, संचयिता, कलापी, नई दिशा, पांचजन्य, जीवन और यौवन (कविता-संग्रह), पंच-पल्लव, खोटा सिक्का, कालरात्रि, एक प्याला चाय, आँधी के पत्ते (कहानी-संग्रह) प्रमुख हैं।

जीवन का झरना

यह जीवन क्या है? निर्झर है;
मस्ती ही इसका पानी है।
सुख-दुख के दोनों तीरों से;
चल रहा राह मनमानी है।

कब फूटा गिरि के अन्तर से?
किस अंचल से उतरा नीचे?
किन घाटों से बह कर आया
समतल में अपने को खींचे?

निर्झर में गति है, यौवन है;
वह आगे बढ़ता जाता है

धुन एक सिर्फ है चलने की—
अपनी मस्ती में गाता है।

बाधा के रोड़ों से लड़ता;
वन के पेड़ों से टकराता।
बढ़ता चट्टानों पर चढ़ता।
चलता यौवन से मदमाता।

लहरें उठती हैं, गिरती हैं;
नाविक तट पर पछताता है।
तब यौवन बढ़ता है आगे;
निर्झर बढ़ता ही जाता है।

निर्झर में गति ही जीवन है;
रुक जायेगी यह गति जिस दिन।
उस दिन मर जायेगा मानव,
जग-दुर्दिन की घड़ियाँ गिन-गिन।

निर्झर कहता है—"बढ़े चलो!
तुम पीछे मत देखो मुड़कर।"
यौवन कहता है—"बढ़े चलो!
सोचो मत होगा क्या चलकर।"

चलना है केवल चलना है;
जीवन चलता ही रहता है।
मर जाना है रुक जाना ही,
निर्झर यह झरकर कहता है।

परिशिष्ट

कठिन शब्दों के अर्थ

कबीर

दोहे

पुहुप = पुष्प। सूप = अनाज फटकने का छाज। रूँदै = रौंदता है। छिमा = मुआफी, क्षमा। उलीचिए = बाहर निकालिए। पैंठ = हाट।

पद

देवल = देवालय, मन्दिर। घनेरी = बहुत, अतिशय। कलारी = शराब बेचनेवाली। ओड़े = ओट में, आड़ में।

सूरदास

पद

राई = राय, राजा। पाई = पाँव। चोलना = साधुओं का लम्बा कुरता, चोला। रसाल = रसीला, मधुर। पखावज = मृदंग। फेंटा = कमर-बन्द। अधर = होंठ। नंदभामिनि = नन्दजी की पत्नी, यशोदा। रिस = क्रोध। तातु = पिता। दाउहिं = बलदाऊ (बलदेव) को। चबाई = चुगलखोर, मिथ्याभाषी। धूत = धूर्त, दुष्ट। मो = मुझे। सौं = कसम, शपथ। अचगरी = शरारत। चीन्ही = पहचान लिया। कित = कहाँ। नेकु = ज़रा-सा भी। सांझ परे = सन्ध्या होने पर। भोरी = भोली, सीधी। पतितायो = विश्वास कर लिया। लकुटि = छड़ी। पतंग = पतिंगा। अलिसुत = भौंरा।

जलसुत=कमल । सारंग=मृग । नाद=ध्वनि, स्वर । कुरंग=मृग । बपु=शरीर । रीते=खाली । दाख=द्राक्षा, मुनक्का । विषकीरा=विष का कीड़ा । अघात=तृप्त होता है । अरगजा=चन्दन, केसर आदि को मिलाकर बनाया गया एक सुगन्धित लेप । मरकट=बन्दर । निषंग=बाणों को रखने का चोंगा, तरकश ।

महात्मा तुलसीदास

दोहे

सुअम्ब-तरु=सुन्दर आम का वृक्ष । बाजि=घोड़ा, ('वाजी' शब्द का तद्भव रूप)। लह=प्राप्त करना । लुनै=काटता है । छतीस ह्वै=विमुख होकर (जैसा ३६ की आकृति से स्पष्ट है) । छः तीन=अनुरक्त होकर (जैसा ६३ की आकृति से स्पष्ट है) । पय=दूध । वारि=जल । भवितव्यता=होनहार । कल्प-विरिछ=कल्पवृक्ष (अभीष्ट फल देनेवाला स्वर्ग का वृक्ष) ।

केवट-प्रसंग

आना=ले आया । मानुषकरनि=मनुष्य बना देनेवाली । मूरि=जड़ी । पाहन=पत्थर । तरनिउं=नाव भी । मुनिघरनी=मुनि (गौतम) की पत्नी (अहल्या) । बाट परई=लुट जाऊँगा । कबारू=व्यवसाय, कार्य । पदपदुम=चरणकमल । पखारना=धोना, प्रक्षालन करना । राउरि=आपकी । आन=शपथ । बयन=वाणी । करुना-अयन=दया के घर । निहोरा=प्रार्थना की । करषी=खिंची । रजायसु=अनुमति । कठवता=काठ का बना बर्तन, नाव का पानी उलीचने का कठौता । सुरसरि-रेता=गंगा के बालुकामय तट पर । दावा=क्लेश । फिरती बार=लौटते समय ।

मीराबाई

सुभग=सुन्दर । त्रिविधि ज्वाला=दैहिक, दैविक और आध्यात्मिक—

तीन प्रकार के ताप। गौतम घरण = गौतम ऋषि की पत्नी (अहल्या)। गरब = गर्व, घमण्ड। राजति = सुशोभित होती है। छुद्र = छोटी। भक्त-बछल = भक्तवत्सल, भक्तों से स्नेह करनेवाले। सोई = वही। छाँड़िदई = छोड़ दिया। कानि = मर्यादा। छाने = छिपकर। बजता ढोल = डंके की चोट पर घोषणा करके। अमोलिक = बहुमूल्य। न्यात = जाति के लोग। म्हाणे = मुझको। रहसूँ = रहूँगी। कुसम्भी सारी = कुसुम रंग की, अर्थात् केसरी रंग की साड़ी।

रहीम

भुजंग = सर्प। नांव = नाम। कदली = केला। स्वाति = एक नक्षत्र का नाम। सरवर = सरोवर, जलाशय। सँचहिं = संचय करना, इकट्ठा करना। लखत है = देखता है। अमी = अमृत। डीठ = दृष्टि, निगाह। दाव = अग्नि। अवनि = पृथ्वी पर। तोयवंत = जल से पूर्ण। मराल = हंस। कितो = कितना भी। कपाल = खोपड़ी, सिर।

रसखान

ग्वारन = ग्वालों में। कहा बसु = क्या बस, क्या चारा! मँझारन = मध्य में। पुरंदर = इन्द्र। कालिंदी-कूल = यमुना का किनारा। कबौं = कभी। कलधौत = सोना। गुंज = गुंजा। भावतो = अच्छा लगता हो। स्वाँग भरोंगी = रूप धारण करूँगी। छछिया = छाछ रखने का बरतन। पीरी कछोटी = पीली काछनी। कलानिधि = चन्द्रमा।

वृन्द

निरस भए = सूख जाने पर। सुक = तोता, सुग्गा। सारी = सारिका, मैना। बिभो = ऐश्वर्य। उलूक = उल्लू ('उल्लूक' शब्द का तद्भव रूप)। पौन = हवा। पिक = कोयल। सरसुतिस = रस्वती। तेते = उतना ही। सौर = चादर। छीर-नीर = दूध और पानी। दोय = दो, अलग-अलग।

बिहारी

भव-बाधा=सांसारिक बाधा, दुनियावी अड़चन। झांई=छाया। जगबाई=संसार की हवा। अपत=बिना पत्ते की। इहि बानक=इसी वेश में, इसी रूप में। सलिलु=जल। सरोजु=कमल। ओथरो=उथला, छिछला। बाइ=वापी, पोखरा। सराधपखु=श्राद्धपक्ष। नै बैं=नव वय, अर्थात् नई जवानी। अहि=सर्प। दाघ=ताप, गर्मी। निदाघ=ग्रीष्म ऋतु। तंत्री-नाद=वीणा की आवाज़। चोल रंग=मजीठे के रंग का।

भूषण

बारिबाह=बादल, ('वारिवाह' शब्द का तद्भव रूप)। रतिनाह=कामदेव ('रतिनाथ' शब्द का तद्भव रूप)। राम द्विजराज=परशुराम। बितुंड=हाथी। मींड़ि राखे=मसल दिए। पातसाह=बादशाह। मंदर=महल (पहली पंक्ति), पर्वत-गुफा (दूसरी पंक्ति)। बेर=बार (पहला शब्द), बेर फल (दूसरा शब्द)। बिजन=पंखा (पहला शब्द), जंगल (दूसरा शब्द)। भनत=कहते हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

पवन-दूत

उन्मना=उत्सुक (होकर)। जलद-वपु=बादलों के सदृश श्याम शरीर वाला। वर्द्धिता=बढ़ी हुई। युगल दृग्=दोनों नेत्र। वातायन=झरोखा। सौरभीला=सुगन्धित। क्षिति=पृथ्वी, ज़मीन। स्निग्धता=शीतलता। कंज=कमल। कालिंदी=यमुना। प्रशोभी=सुशोभित। क्लान्त=थका हुआ। उत्ताप=तेज गर्मी। अर्क=सूर्य। तद्गता=तल्लीन। उत्कीर्णकारी=बिखेरने वाले। सिक्त-पीयूष=अमृत से सिंचा हुआ। दुकूल=रेशमी वस्त्र। अम्भोजनेत्रा=कमल के समान आँखों वाली। विरह-विधुरा=वियोग से व्याकुल।

मैथिलीशरण गुप्त

धन्य लाल की माई

उटज = कुटी। वितान = विस्तार (यहाँ अर्थ है 'आकाश')। गिरा = वाणी। नीरनिधि = समुद्र। अभीप्सित = इच्छित बात, अर्थात् इच्छा। अरण्य = जंगल। तदपि = तब भी। वैधव्य = विधवापन। तुषारावृता = कुहरे से ढँकी हुई। विधुलेखा = चन्द्रमा की किरण, चाँदनी। अनुताप = पश्चात्ताप। नीरव = शांत। उल्का = आकाश से टूटकर गिरनेवाला प्रकाशमय तारा। मृदुल = कोमल।

दोनों ओर प्रेम पलता है

प्रणय = प्रीति, प्रेम। आली = सखी। जगती = दुनिया। वणिग्वृत्ति = बनियापन।

पधारो

भवान् = आप। प्रणति = विनय। परिणति = पूर्णता।

सखि, वे मुझसे कहकर जाते

व्याघात = गहरी चोट। पण = बाजी। क्षात्र-धर्म = क्षत्रिय का धर्म। सदय = दयामय, दयालु। उपालम्भ = उलाहना।

माखनलाल चतुर्वेदी

उलाहना

अभिसार = प्रिय-मिलन के लिए जाना। सलामत = जीवित, सुरक्षित। अमानत = थाती, धरोहर। कारा = जेल। मसीहा = मसीह, मुर्दे को जिला देने की शक्ति रखनेवाला।

रामनरेश त्रिपाठी

जीवन-संदेश

कर्म-निरत = कर्म में लगा हुआ। विहंग = पक्षी। निष्क्रिय = क्रियाहीन। विलसित = शोभित। मही = भूमि। लवलेश = रंच मात्र। दारुण

=कठिन। मेधा=बुद्धि। विशृंखल=अस्त-व्यस्त, छिन्न-भिन्न। जगन्नियन्ता=संसार का नियामक (ईश्वर)। कर्मच्युत होना=कर्म का त्याग करना। अलभ्य=न मिलने वाला।

जयशंकर प्रसाद

मधुमय देश

विभा=कांति। हेमकुम्भ=स्वर्ण-कलश।

गीत

विभावरी=रात्रि। अम्बर=आकाश। खग-कुल=पक्षी-समूह। किसलय=कोमल नया पत्ता, कोंपल। मुकुल=कली। मलयज=चन्दन (यहाँ अर्थ है चन्दन की सुगन्ध)।

आँसू

कलित=युक्त। निलय=वासस्थान, घर। अनिल=वायु। घनीभूत=गाढ़ी। विस्मृति=स्मृति से उतरना, भूलना, अपदार्थ=अकिंचन। बेगुन=गुन=नाव खींचने की लम्बी रस्सी, उसके बिना; बेगुन। सम्बल=सहारा। विच्छेद=वियोग, विरह। परिणय=सम्मिलन, विवाह।

सुमित्रानन्दन पन्त

मौन निमन्त्रण

ज्योत्स्ना=चाँदनी। तड़ित=बिजली। इंगित=इशारा। साच्छ्वास=उत्साह से पूर्ण। मिस=बहाना। बिथुरा देना=छिटका देना, बिखेर देना। तुमुल=भीषण। तन्द्रा=आलस्य। खद्योत=जुगनू। मधुप=भौंरा।

बालापन

स्मिति=मुस्कान। उपक्रम=आरम्भ, प्रस्तावना।

प्रथम रश्मि

रंगिणी=रंगीली। कमल-क्रोड़=कमल की गोदी (सम्पुट)। द्रुत=

तेज़ी से। स्पन्दन=धड़कन।

वारुणी

जनैक्य=जनता की एकता। मनोनभ=मनरूपी आकाश। निनाद=स्वर। झंकारयुक्त। अब्द=वर्ष।

लहरों का गीत

फेनिल=फेन के समान शुभ्र, फेनयुक्त। पुलिन=नदी का किनारा। हुलस=प्रसन्न होकर।

मानव जीवन

अविरत=लगातार। उत्पीड़न=दुस्सह पीड़ा। आनन=मुखड़ा, मुखाकृति।

कोकिल

ध्वंस-भ्रंश=नाश। पर्ण=पत्ता। मंजरित=पुष्पित। स्फुलिंग=चिनगारी। मुकुलित हों=खिलें।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

क्या गाऊँ

पंचदशीकामिनियाँ=पूर्णिमा के चन्द्र की तरह शोभावाली नायिकाएं। तन्त्री=वीणा। रुद्ध=रुँधा हुआ।

अभी न होगा मेरा अंत

प्रत्यूष=प्रातःकाल, सूर्य। दिगन्त=दिशाओं का कोना-कोना।

तुम और मैं

तुंग=ऊँचा। शृंग=चोटी। कान्त=कोमल, सुकुमार। दिनकर=सूर्य। खर=तीक्ष्ण, तेज़। विटप=वृक्ष। रेणु=धूलि। निशीथ=आधी रात। मदन=कामदेव। पंचशर-हस्त=हाथों में अपने पाँचों बाण लिए हुए। दिग्वसना=दिशाएँ ही जिसके वस्त्र हों। तड़ित्तूलिका=बिजली रूपी कूची। अरविन्द=श्वेत कमल। व्याप्ति=व्यापकता।

प्रभाती

मुद्रित = मुंदे हुए। प्रसून = फूल। वृन्तहीन = डंठल-रहित।

भारत की विधवा

कुसुमित = पुष्पित। पुलकित = रोमांचित। पाँखें = पंख। पुलिन = तट।

जागो फिर एक बार

अलि = भ्रमर। कोरक = सम्पुट, कटोरी। यामिनी-गन्धा = रजनी-गंधा नामक पुष्प-वृक्ष। विरह-विदग्धा = वियोग रूपी अग्नि से जली हुई। चारु = सुन्दर। स्वप्निल = स्वप्नों के भावों के। ऋजु = सीधा। कुटिल = टेड़ा। उभय = दोनों।

महादेवी वर्मा

मेरे दीपक

आलोकित = प्रकाशित। अपरिमित = असीम। शलभ = पतिंगा। हृदयंकगरनमा = हृदय में धारण करना। द्रुततर = तीव्रतर, अधिक तेज़।

जाग तुझको दूर जाना

तिमिर = अन्धकार। निठुर = निष्ठुर, निर्दय। क्रन्दन = रुदन। उपधान = तकिया।

फूल

मकरन्द = पराग। रजत-किरणें = चाँदी के समान श्वेत किरणें। अतीत = बीता हुआ, भूतकाल।

सुभद्राकुमारी चौहान

झाँसी की रानी

भृकुटी = भौंह। गुमी हुई = खोई हुई। मुंहबोली बहन = धर्म की बहन। आराध्य = पूज्य। विरुदावलि = गुण-गाथा। लावारिस = जिसका

कोई संरक्षक या उत्तराधिकारी न हो। बेजार=लाचार।

मेरा जीवन

आलोकित=प्रकाशित। वलयित=गुँथा हुआ।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन

हिन्दुस्थान हमारा है

वितान=तम्बू, विस्तार। प्रभंजन=पवन। स्वाहा=देवताओं के लिए हवन करते समय उच्चारण किया जानेवाला शब्द। स्वधा=पितरों को हवि अर्पण करते समय बोला जानेवाला शब्द। उत्संग=गोद। प्लावित=डूबा हुआ। औघट=दुर्गम। कपाट=किवाड़, फाटक। आसन्नभूत=निकट भूत, हाल ही में बीता काल। शोणित=रक्त खून। प्रतिपक्षी=दुश्मन, विरोधी पक्षवाले। पुंज=समूह।

ओ तुम सब इन्सान उठो !

अभ्र=बादल। गरल=विष। दुर्निवार=रोकने में कठिन।

विप्लव-गायन

गतानुगति=अन्धानुकरण। तर्जन=तड़तड़ाहट। मिजराब=तार का बना छल्ला, जिसकी नोक से आघात करके सितार, तानपूरा आदि बजाये जाते हैं। युगलांगुलि=दोनों उँगलियाँ, जिनसे वीणा बजाई जाती है—अँगूठा और तर्जनी। बीभत्स=घृणित।

भगवतीचरण वर्मा

तुम लुटाती आ रही हो

विकम्पित=काँपता हुआ। अवली=पंक्ति, समूह। आगत=भविष्य। मलय-वातास=मलय पर्वत से आने वाली वायु। आलम=संसार।

भैंसा-गाड़ी

संसृष्टि=सृष्टि। जर्जर=फटेहाल। तन्द्रिल=अलसाए हुए। कंकाल=ठठरी। निरामिष=माँस न खानेवाला, शाकाहारी।

सियारामशरण गुप्त

एक फूल की चाह

उद्वेलित कर=बहाकर। दुर्दान्त=असह्य, जिसे दबाना कठिन हो। अवयव=अंग। रवि-कर-जाल=सूर्य की किरणें। निदेश=आज्ञा। परिधान=पहरावा। शुचिताप=वित्रता। अविश्रान्त=लगातार, बिना थके। भय-जर्जर=डर से पीड़ित।

रामधारीसिंह 'दिनकर'

हिमालय के प्रति

नगपति=पर्वतों के राजा। पुंजीभूत=राशि बने हुए, मूर्तिमान्। हिम-किरीट=बर्फ के मुकुट। व्योम=आकाश। निदान=हल,परिणाम। दृगोन्मेष करना=आँखें खोलना। अमिय=अमृत। कराल=भयंकर। चतुर्दिक्=चारों दिशाओं से; हर ओर से। व्याल=सर्प। शैलराट्=पर्वतों का राजा, नगपति।

परिचय

आगार=खज़ाना, घर। नंदन-विपिन=नंदन-वन, देवलोक की वाटिका। क्षार=राख। अशनि=वज्र। गांडीव=धनुष। पारावार=समुद्र। उद्दाम=प्रचण्ड, बन्धन-रहित।

हरिवंशराय बच्चन

मधुशाला

हाला=मदिरा, शराब। मोमिन=सच्चा मुसलमान।

कलियों से

क्षणिक=पल-भर में नष्ट होनेवाला। परितोष=तृप्ति।

अँधेरे का दीपक

दुष्प्राप्य=कठिनता से प्राप्त होनेवाला। आशियाना=घर।

पुकार लो

अजनबी = अपरिचित; परदेसी। तरी नाव। मरीचिका = चिलचिलाती धूप, मृगतृष्णा।

स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय

उड़ चल हारिल

प्राची = पूर्व दिशा।

नदी के द्वीप

स्रोतस्विनी = नदी। सैकत-कूल = रेत-भरा किनारा। प्लावन = बहना। नियति = भाग्य। दाय = विरासत, उत्तराधिकार में प्राप्त धन। स्वैराचार = स्वेच्छाचार। अतिचार = मर्यादा का उल्लंघन।

जो कहा नहीं गया

पारंगत = पार गया हुआ। शब्दातीत = शब्दों की अभिव्यक्ति के बाहर।

हमारा देश

ढुल मुल = ढीले-ढाले। लोलुप = लोभी।

उदयशंकर भट्ट

रात की गोद में

अघ = पाप। जघन्य = अत्यन्त घृणित। अपलाप = सत्य को छिपाना, बकवास। तस्कर = चोर। शैशव = बचपन। भर्त्सना = निन्दा, डांट-फटकार। पथ्य = हितकर आहार। जीवन-पारिजात = जीवन रूपी पवित्र वृक्ष; (पारिजात हरसिंगार के वृक्ष को कहते हैं जिसे पाँच देववृक्षों में से एक माना जाता है।)

शिवमंगलसिंह 'सुमन'

मिट्टी की महिमा

अविनश्वर = अविनाशी। विरंचि = ब्रह्मा। हलाहल = विष।

सोहनलाल द्विवेदी

युगावतार गांधी

मेखला=करधनी। दशन=दाँत। त्राण=रक्षा। लुण्ठित=लुढ़के हुए।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल

मैं तुम्हारे साथ गाती

काकली=पतली, मधुर आवाज़। प्रस्तर=पत्थर। द्विधा=दुविधा, संदेह। अवरोह=उतार। आरोह=चढ़ाव। वाग्विहीन=चुपचाप, अवाक्। गात=शरीर। अवज्ञा=अपमान, तिरस्कार। अवरुद्ध=रुकी हुई। मीलित=बन्द, मुँदी हुई। शारद=शरद् ऋतु की। अवदात=स्वच्छ, उज्ज्वल। परिप्रोत=भरा हुआ।

आज कवि का मूक क्यों स्वर

अपदस्थ=पद से हटाया हुआ। विद्रूप=विकृत रूप।

नरेन्द्र शर्मा

कामना

अचिरता शीघ्रता। रिस-रिसकर=टपक-टपककर। अजदहा=अजगर। खाजा=खाद्य पदार्थ। मेहनतकश=श्रमिक। अहि=सर्प। प्रपात=झरना। द्रोणी=नाव।

कुल-पुल

आधि-व्याधि=मानसिक एवं शारीरिक कष्ट। क्रीत भृत्य=खरीदा हुआ दास। कीर=तोता, सुग्गा।

प्रभात-फेरी

स्वत्व-हीन=अधिकार-रहित। अज=ब्रह्मा।